सहजानंद शास्त्रमाला

# समाधितन्त्र प्रवचन

# [चतुर्थ भाग]

**रचयिता**

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

**प्रकाशक**

**श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास**

**गांधीनगर,इन्दौर**

**Online Version : 002**

# प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'समाधितन्त्र प्रवचन चतुर्थ भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। समाधितन्त्र **आचार्य पूज्यपाद** द्वारा रचित आध्यात्मिक ग्रन्थ है. इस पर पूज्य वर्णीजी द्वारा अत्यन्त सरल भाषा में प्रवचन किये गये हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में समाधितन्त्र ग्रन्थके श्लोक 76 से 105 तक के प्रवचन संकलित हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे | इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है ।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्रीशांतिलालजी बड़जात्या,** इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

**विनीत**

विकास छाबड़ा

मल्हारगंज मेनरोड़ ,53

म) रइन्दौ०प्र०(

Phone-0731-2410880

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

# आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवानजो मैं हूँ वह हैं भगवान। ,
वे विराग यह राग वितान।। ,र यही ऊपरी जानअन्त

मम स्वरूप है सिद्ध समानअमित शक्ति सुख ज्ञान निधान। ,
बना भिखारी निपट अजान।। , आशावश खोया ज्ञानकिन्तु

सुख दुःख दाता कोई न आनमोह राग रूष दुःख की खान। ,
निज को निज पर को पर जानफिर दुःख का नहीं लेश निदान।। ,

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम बुद्ध हरि जिसके नाम।विष्णु ,
काम।।लता का फिर क्याआकु ,गि पहुँचू निजधामराग त्या

होता स्वयं जगत परिणाम काम।मैं जग का करता क्या ,
दूर हटो परकृत परिणाम' ,सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

# आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँरूपी हूँ।।टेक।।स्वमैं सहजानन्द ,

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्ययं पूर्ण।हूँ सहज ज्ञानघन स्व ,
मैं दर्शन ,धाम सहज आनन्दहूँ सत्य॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्तापर में मेरा कुछ काम नहीं। ,
मैं दर्शन ,पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ॰ ,मैं सहजा॰।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में।निज की निज में दुविधा ही क्या ,
मैं दर्शन ,निज अनुभव रस से सहज तृप्त॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

# समाधितन्त्र प्रवचन


प्रवक्ता :

**अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी**
**'सहजानन्द' महाराज**

प्रबन्ध—सम्पाद —

बैजनाथ जैन, सदस्य सहजानन्द शास्त्रमाला

यादगार बड़तला, सहारनपुर



प्रकाशक –

## मंत्री. सहजानन्द शास्त्रमाला

**१८५ ए रणजीतपुरी, सदर मेरठ**

मुद्रक—साहित्य प्रेस, सहारनपुर


सन्१९६७]सर्वाधिकार सुरक्षित [न्योछावर ११)रु.

# सहजानन्द मौन-मनन

मुझे मात्र ज्ञानानुभव चाहिये । नाथ ! आप अपने ज्ञानस्वरूप में पूर्णरूप से समाये हुए हो, सो आप कितने सुन्दर हो । आप तो अपने में समा गए सो आप कृतार्थ हो । आपमें विकल्प ही नहीं, बाहर कुछ होता रहो, उससे अब आपको क्या ? आप पूर्ण शान्त हो और आपके ज्ञान में सारा विश्व प्रतिभात हो रहा है यह अतुल वैभव सहज में पड़ा हुआ है आपमें ।

मैं भी तो आप जैसा चेतन पदार्थ हूँ । नाथ ! मैं ज्ञानानुभव पाये बिना न उठूँगा अब । मुझे ज्ञानानुभव के सिवाय अन्य कुछ नहीं चाहिये । ज्ञानानुभव के सिवाय अन्य जितनी भी स्थितियाँ हैं, चाहे इन्द्रपने के सुख हों, क्या सार है वहाँ भी ? देवियों में रमकर, उनका दास बनकर, हुकूमत करने का क्षोभ मचाकर, अनेक संकल्पों-विकल्पों में फँसकर वहाँ भी क्लेश भोगा जाता है, स्वभाव से विमुख होकर मिथ्या ही तो रहना पड़ता है । अहो, वह भी महाक्लेश है । एक ही निर्णय है मेरा – मुझे ज्ञानानुभव के सिवाय अन्य कुछ नहीं चाहिये ।

नाथ ! क्या मेरा उद्धार नहीं होगा ? क्यों नहीं वह कील निकल जाती है वेग से एकदम, जिससे विकार-फोड़े का एकदम शमन हो जाय । ज्ञानानुभव ही वह एक मशक है जिससे प्रेरित होकर विकार के लगाव की जमी हुई कील निकल फिक जाती है । विकार का विनाश हो गया, फिर कोई कामना ही नहीं रहती, कोई विपदा ही नहीं रहती, फिर क्लेश का नाम ही नहीं । पूर्ण समृद्ध परिणति है ज्ञानानुभूति की परिणति ।

हे निजनाथ ! दर्शन दो, व्रतप्रतिमा में सागर विद्यालय के सरस्वती भवन के जिनालय में जैसे चार-पाँच दिन लगातार दुपहर की सामायिक में ज्ञानानुभव का अमृतपान कराया था वैसा ही अनुभव दो ।माना कि मैं अन्यथा चला, अनेक अन्यान्यपदार्थों में उलझा, परदृष्टियाँ अनेकश: कीं, किन्तु वह सब विभाव ही तो था, हुआ, हो गया, अब क्या वर्तमान पड़ा हुआ है वह प्रर्वतन ? एक समय में एक ही तो परिणति चलती है । अब आपके निकट आने को अति उत्सुक हूँ तो वह कलुषता अब तो नहीं है । हाँ, मानी जा सकती है वासना, सो वासना का उच्छेद भी तो ज्ञानानुभूति की वृत्तियों से हुआ करती है । हे अविकार ज्ञानस्वभाव ! आओ, अब मेरे उपयोग में विराजो । जब मुझे आपके सिवाय अन्य की धुन नहीं है तो आपके न आने की तो कोई अब वजह ही नहीं रही, अगर रही भी तो कोई जरा सी वजह तो वह आपके आते ही तुरन्त दूर हो जायगी । जरा-जरा-सी कसर रहने पर भी तो आप आत्मरसिकों के उपयोग में आ जाया करते हो ।

मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, प्रतिभासमात्र हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान को ही भोगता हूँ, मैं ज्ञानमात्र हूँ। कैसा ज्ञान? ज्ञान, जानन । कैसा जानन? जानन, ऐसा जानन, जानन मात्र ही हूँ मैं । अरे, यह अन्य कल्पना क्यों उठी, यह विकार भाव क्यों आया ? हटो ! अच्छा, आया था, वह भी ज्ञान का कार्य था । भेददृष्टि से विकार ज्ञान का कार्य नहीं, किन्तु जब अभेददृष्टि से निर्णय हो गया, आत्मा ज्ञानमात्र है तो अब इस ओर से भींत के जो परिणमन होता है वह इस ज्ञानमात्र आत्मा का होता

है । विकल्प उठा, विचार उठा, कल्पना हुई, वह भी तो ज्ञान ही इस रूप से बनकर परिणम रहा है । यहाँ भी मैंने ज्ञान को किया और ज्ञान को भोगा, लेकिन ऐसे भोग में मैंने पाया कुछ नहीं, खोया ही है । अंत: कल्पनाओ! हटो

ॐ अहा, यह मैं ज्ञानमात्र हूँ केवल जाननस्वरूप, जाननमात्र, प्रतिभास स्वरूप । इसकी उपासना की बात बसी रहे, एतदर्थ मुझे दो बातें विशेष करनी हैं –(१) आंखें बन्द किये हुए बैठा रहूँ, लेटा रहूँ, किसी खास कार्य के लिए जैसे चलना, शोधना, खाना, बिम्बदर्शन, स्वाध्याय, विशिष्ट साधर्मी बन्धु से आवश्यक बोलना आदि ऐसे खास कार्यों के समय आँख खोलूँ, फिर बंद कर लूँ, बंद किये रहूँ । (२) यह विचार बराबर चलाये रहूँ मैं केवल जाननमात्र हूँ, प्रतिभासस्वरूप हूँ, यह मैं जाननस्वरूप हूँ, जानन से अतिरिक्त कुछ नहीं, यह जाननमात्र हूँ, इतना ही हूँ । ॐ शुद्ध चिदास्मि ।

# Table of Contents

प्रकाशकीय ........ 2

आत्मकीर्तन ........ 3

आत्म रमण ........ 4

सहजानन्द मौन-मनन ........ 6

श्लोक 76 ........ 1

श्लोक 77 ........ 6

श्लोक 78 ........ 9

श्लोक 79 ........ 13

श्लोक 80 ........ 17

श्लोक 81 ........ 21

श्लोक 82 ........ 26

श्लोक 83 ........ 30

श्लोक 84 ........ 34

श्लोक 85 ........ 38

श्लोक 86 ........ 42

श्लोक 87 ........ 46

श्लोक 88 ........ 50

श्लोक 89 ........ 54

श्लोक 90 ........ 58

श्लोक 91 ........ 62

श्लोक 92 ........ 66

श्लोक 93 ........ 67

श्लोक 94 ........ 71

श्लोक 95 ........ 74

श्लोक 96 ........ 78

श्लोक 97 .......... 82

श्लोक 98 .......... 86

श्लोक 99 .......... 90

श्लोक 100 .......... 94

श्लोक 101 .......... 97

श्लोक 102 .......... 101

श्लोक 103,104 .......... 105

श्लोक 105 .......... 109

# समाधितन्त्र प्रवचन

# [चतुर्थ भाग]

**प्रवक्ता —अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी "श्रीमत्सहजानन्द" महाराज**

येनात्माऽबुद्धयतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नम: ॥

## श्लोक-76

दृढ़ात्पबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मन: ।

मित्रादिभिर्वियोगं च विभेति मरणाद् भृशम्॥७६॥

**अज्ञानी का मरण भय** –समाधिभाव में ही स्वायत्त परम सहज आनन्द है । समाधि का आश्रय है सहज अन्तस्तत्त्व । इसका जिनको परिचय नहीं है, उन्हें जीवन में व मरण में घोर संकट सहने पड़ते हैं । शरीरादिक पदार्थों में जिनकी बुद्धि दृढ़ हो रही है, ऐसे बहिरात्मा जब मरणकाल को देखते हैं, उस समय वे मरण से बहुत अधिक डरते हैं । आत्मा एक स्वतंत्र पदार्थ है और शरीर अनेक परमाणुओं का पुञ्ज है । जब शरीर से इस आत्मा का वियोग होता है उस समय देखना चाहिये कि जैसे फटे-पुराने कपड़े को उतारकर कोई नवीन वस्त्र पहिन रहा है, तो उसमें दु:ख की क्या बात है ? इसी तरह पुराने-जीर्ण शरीर को त्यागकर नवीन शरीर धारण करने को है तो उसमें दु:ख न होना चाहिये । किन्तु जब आत्मा में ज्ञान नहीं है तो मोह की तीव्रता के कारण वह शरीर को आत्मा समझ लेता है । अत: जब मरणकाल आता है, उस समय यह समझता है कि मेरा विनाश हो रहा है, ऐसा जानकर मरण से अत्यधिक डरता है ।

**मरणभय के कारणभूत अहंङ्कार और ममकार** –भैया ! इस पर्यायमुग्ध जीव को शरीर से न्यारा अपने आत्मा का स्वरूप तो समझ में आया नहीं । मैं आत्मा इस शरीर से जुदा हूँ, ऐसा तो उसके ध्यान में है

नहीं, सो जो शरीर है सो ही मैं हूँ, ऐसा मानने पर शरीर के नाश में अपना नाश समझता है, एक बात तो यह है क्लेश के कारणों में । दूसरी बात यह होती है कि मित्रादिक अथवा जो धन कमाया, वह वैभव सब छूटने को है । छूटा जा रहा है, ऐसा भी देखते हैं, सो जिसने बड़ा श्रम करके धन कमाकर रक्खा हो और धन एकदम छूट रहा हो तो उसका क्लेश आयगा । इसी जीवन में कोई १०० रु. का नुकसान हो जाय तो कितना दुःख मानता है यह जीव । १०रु. गिर जायें तो उसका क्लेश ही होता है । भला जब सारी जिन्दगी भर की कमाई छोड़े जा रहा है, कुटुम्ब छूटा जा रहा है, ऐसा देखते हुए में इस मोही मरने वाले को बड़ा क्लेश होगा ही ।

**समागम का आद्योपान्त परिणाम क्लेश** –भैया ! सच समझो कि जो कुछ कमाया जा रहा है, वह सब अपने आप अपने क्लेश का साधन जुटाया जा रहा है । कमाते जावो, कमाते जावो, पर किसी दिन तो इससे जुदा होना ही है । मरण-काल में सब छूट जाने को है, उस समय इसके चित्त में कितना संक्लेश परिणाम होगा । जिसने जिन्दगी में कुछ कमाया नहीं, अपनी जिन्दगी आराम से निभायी, जितनी आवश्यकता थी उतना कमाया, अब मरते समय उसको वह संक्लेश कहाँ से होगा कि हाय मैंने लाखों का धन कमाया अब यों ही छूटा जा रहा है । इस निगाह से देखो तो धन-सम्पदा, यह कमाया हुआ धन, सब महान् क्लेश के लिए होते हैं।

**रागी-जीवन में विकट समस्या** –एक तो यही प्राकृतिक विकट समस्या है कि यह मनुष्य जन्मता है तो पहिले तो रहता है बच्चा, फिर होता है जवान और फिर होता है यह बूढ़ा । इसने आराम के लिए बड़े साधन जुटायें, सब चीजें इकट्ठी कीं और अंत में आ गया बुढ़ापा, शरीर थक गया, बूढ़ा जानकर परिवार के लोग कुछ फिक्र भी नहीं करते, कुछ हमारे कर सकने लायक तो रहा नहीं, अब उसकी कौन खबर रक्खे । जिन्दगी भर आराम की मंशा से बड़े-बड़े श्रम किये, बहुत धन जोड़ा, सब कुछ किया पर अन्तिम स्थिति ऐसी आती है प्राकृतिक कि वह प्राय: कष्ट के लिए होती है । कोई धनी हो और वह बूढ़ा हो जाय, रोगी हो जाय, तो उसका वह धन उसके प्राणघात के लिये होता है । जिसका सम्बन्ध उस धन के साथ है या होगा या जिसे अधिकार मिलेगा, वह क्या यह चाहता है कि यह और जिन्दा बना रहे । वे ही सारी चीजें उसके लिये अनर्थ के कारण होती हैं, पर व्यामोही पुरुष इस घात में लगा रहता है कि जितना अधिक संचय हो जाय, जितना अधिक जोड़ ले, जितनी बड़ी अपनी शान बन जाय, हम सबसे बड़े धनपति पुरुष हैं, जितनी बड़ी इज्जत धन के कारण हो सके कर लें, यों विकल्प रहता है । यह नहीं सूझता कि आखिर वह कल्पित सुख सबकी सब इकट्ठी कसर निकाल लेगा, एकदम महान् कष्ट का कारण बनेगा ।

**फुट्टू देवी ऊँट पुजारी** –भैया ! सब कष्टों का कारण शरीर में आत्मबुद्धि करना है, लोग मुझे समझें कि ये बहुत बड़े पुरुष हैं । किन लोगों में यह चाहा जा रहा है ? जो मोही हैं, मलिन हैं, अज्ञानी हैं, जिनको अपनी भी सुध-बुध नहीं हैं, ऐसे लोगों में मेरा नाम फैले यह सोचा जा रहा है । ऐसे पुरुषों में नाम फैलने की बात वही सोच सकता है जो खुद मलिन है, मोही है, शरीर को ही आत्मा मानता है । सो वहाँ जैसे

एक कहावत है कि 'फुट्टू देवी ऊँट पुजारी' ऐसी हालत हो रही है । किसी जगह पर एक फूटा पत्थर पड़ा हुआ था, वह बन गया देवता और उसके पूजने वाले ऊँट बन गये । ऐसा हाल इन मोही-मोहियों का है, किनमें नाम चाहते हैं ? ये मोही मोहियों में ही नाम चाहते हैं । मेरा नाम हो, इसमें 'मेरा' शब्द कहने से किसको लक्ष्य में लिया है ? इस शरीर को, यदि इस चैतन्यस्वरूप आत्मा को लक्ष्य में लिया होता कि इस मेरे का नाम हो तो वह नाम की बात न सोचकर यों सोचता कि मेरा शुद्ध विकास प्रभु के ज्ञान में दीखा हुआ हो ।

**संक्लेश का मूल कारण अभेदाभ्यास** –यह अज्ञानी जीव तीव्र मोह के उदयवश इस शरीर को ही आत्मा समझ लेता है । जब शरीर सम्बन्धी स्त्री-पुत्र, मित्रादिक इन पर पदार्थों को मानता है कि ये मेरे हैं, तो जब उनके मरण का समय आता है तो अपना नाश समझ लेता है—हाय मैं मरा, हाय मैं मिटा ! और उस काल में अपने मित्र का वियोग देखता है, जिससेबड़ी सलाहें ली, जिसको अपने प्राणों की तरह देखा, जिसमें बड़ा खुलकर, गुप्त रहकर सब प्रकार का व्यवहार किया, ऐसे पुरुष जब छूट रहे हैं, उनको छोड़कर जब यह जा रहा है तो उस समय इसे बड़ा क्लेश होता है । ये सारे क्लेश तब न हों जब अपने जीवन में इन सब पर पदार्थों से मैं भिन्न हूँ, ऐसी अपनी भिन्नता का अभ्यास किया होता और किसी भी अवस्था में राग-द्वेष न करने का यत्न किया होता, ध्यान बनाया होता तो उनके मरणकाल में क्लेश न होता ।

**भेदविज्ञान से ही क्लेशविनाश की संभवता** –सभी जीव जो जन्मते हैं, वे मरते अवश्य हैं । जिनके आयु का उदय है, उनकी आयु का क्षय अवश्य होगा । आयु के क्षय के बाद आयु का उदय मिले या न मिले, दोनों ही बातें सम्भव हैं, जैसे १४वें गुणस्थान के अंत में आयु का क्षय हो ही जाता है, उसके बाद फिर आयु का उदय नहीं मिलता है, सिद्ध हो जाता है तो यह संभव है कि आयु के क्षय के बाद नवीन आयु न मिले पर आयु, पर आयु मिली है आयु का उदय है तो उसके बाद आयु का क्षय अवश्य होगा । अब सुख, साता, आनन्द तो भेदविज्ञान में है ही, इस जीवन में ही भेद विज्ञान करें, धनसम्पदा से मोह न रखें, इसे अपना सर्वस्व न समझें । इसमें मोह-ममता करने से तो बहुत बड़ा ऋण चुकाना पड़ेगा, बड़ा क्लेश होगा । प्रथम तो इस जीवन में ही क्लेश होगा, कभी कुछ मिट गया तो उसे देखकर शोक करना होगा । और मरण-समय पर तो बड़े क्लेश का अवसर ही आ गया समझिये, सबकुछ एकदम छूटता दीख रहा है ।

**प्राकरणिक शिक्षा** –इस वार्ता से हमें क्या शिक्षा लेनी है कि हम अपने जीवन में इस बात का भेदाभ्यास बनायें कि मेरा आत्मा इस शरीर से भी न्यारा है, अन्य पदार्थों से तो न्यारा अपने आप ही बहुत पहिले है, चेतन और अचेतन ये समस्त समागम मेरे सुख के लिये नहीं हो सकते, जब ये मिले हैं तब भी सुख के लिए नहीं हैं । वियोग होने पर तो दुःख का आखिरी विस्तार हो जाता है पर जितने काल ये मिले हैं, उतने काल भी इनसे सुख नहीं है । स्त्री, पुत्र, वैभव, कुछ हो किसी से सुख नहीं है ।

**स्त्री समागम में क्लेश** –स्त्री यदि कुरूपा है तो उसके कुरूपपने को देखकर यह सदा मन में जुगुप्सा बनाये

रहता है और दुःखी रहता है । स्त्री यदि सुरूपा है तो नाना प्रकार की शंङ्काएँ यह पुरुष मन में रखता है और व्यर्थ का ही कुछ भ्रम बनाये रहता है जिससे चित्त में अशान्ति बनी रहती है । स्त्री यदि आज्ञाकारिणी नहीं है तो उसका कष्ट भोगता है और यदिआज्ञाकारिणी है तो उसमें भी अधिक कष्ट भोगता है, फिर तो जगह-जगह अपनी स्त्री के गुण गाने पड़ते हैं, मेरी जैसी स्त्री दुनिया में कहीं नहीं हो सकती । ऐसा ही सभी लोग प्राय: सोचते रहते हैं । कितना कष्ट है – सुन्दर समागम मिले तो उसका कष्ट और अमनोज्ञ समागम मिले तो उसका कष्ट ।

**पुत्रादिसमागम में क्लेश** –स्त्री ही क्या, पुत्र की भी यही बात है । भला पुत्र हो तो क्या हुआ? तत्सम्बन्धी राग की वासना जो चित्त में बनी रहती है उसकी मुदी चोट से इसे निरन्तर पिसना पड़ता है और फिर अच्छे पुत्र के होने से जो मन में राग बसाया है, उस रागभाव की पकड़ के कारण इसको आत्मानुभव का अवकाश नहीं मिलता है । शुद्ध आनन्द जिस स्थिति में है, जिस अनुभूति में है उस स्थिति के इसे दर्शन भी नहीं होते हैं, तो कौन-सा पदार्थ ऐसा है जो इस जीव के लिए सुख का कारण हो, किन्तु यह मोही शरीर को भी अपना मानता है और बाह्य चेतन-अचेतन को भी अपना समझता है और इसी कारण अन्तिम समय में इसे बड़े क्लेश भोगने पड़ते हैं ।

**कोढ़ में खाज** –देखो भैया ! जिन्दगी भर तो धर्म किया, जिन्दगी भर श्रम किया, दान किया, दया की, परोपकार किया, नाम कमाया, वह सारा का सारा यश का सुख मरणकाल में इसकी कसर निकाल रहा है । यहाँ संक्लेश होता है मरण में । प्रथम तो जब यह जीव इस शरीर से निकलने को होता है, तो यह बताते हैं कि जैसे चाँदी का तार खींचने का यन्त्र जिसे गती कहते हैं, होता है ना, उससे जैसे तार खींचा जाता है तो उस तार पर क्या गुजरती है, जो गुजरती है वह उसी पर गुजरती है, वह तो अचेतन है अनुभव नहीं करता है पर इस ही भाँति इस शरीर से जब जीव निकलता है तो उतने कष्ट पूर्वक निकलता है । प्रथम तो वह ही एक समस्या है फिर दूसरी बात शरीर को मान लिया है कि यह मैं आत्मा हूँ तो दुःख सहस्रगुणा हो जाता है । जिसके यह विवेक जग रहा हो कि यह शरीर शरीर है, यह मैं आत्मा हूँ, ये तो दो पदार्थ पहिले से ही थे, यह मैं अमर हूँ । यह मैं निकल रहा हूँ, पर अपने स्वरूप में बराबर बना हुआ हूँ ऐसी जिसकी बुद्धि हुई मरणकाल का कष्ट उसके अत्यन्त हल्का हो जाता है, पर मरण का भी कष्ट है और साथ ही शरीर में आत्मबुद्धि भी बनी है तो जैसे एक कहावत है कि कोढ़ में खाज; पहिले तो क्लेश था कोढ़ का, अब उसी जगह खुजली भी हो गयी । तो शरीर से जीव के निकलने में बड़ा क्लेश है और ऐसे शरीर में आत्मबुद्धि हो गयी तो उसका कष्ट सहस्रगुणा हो गया ।

**मरणकाल में फोकट तृतीय कारण** –मरणकाल में यह उद्दण्ड जीव फोकट की तीसरी बात यह भी देख रहा है, सोच रहा है कि मैंने अपने जीवन में कैसे कष्ट उठा कर लाखों का धन जोड़कर रखा था, कैसे कैसे लोगों को सताकर अपने आपके आराम को भी बरबाद करके यह इतना धन, वैभव, सम्पदा जोड़ रक्खीथी, अब यह सारा का सारा छूट रहा है, तीसरी बात यह देख रहा है । तो ये ३ प्रकार के कष्ट एकसाथ मरण के समय पर आ जाते हैं और यह अज्ञानी जीव मरण के समय में दुःखी हो जाता है ।

**मरणभयहारी चिन्तन**–भैया ! जब मरण के सब फंदे आ पड़ते हैं तब कर्तव्य क्या है ? मरण तो सब पर आयगा कि सारा का सारा छोड़कर जाना पड़ेगा ना, तो अभी से सम्भल जायें और अपना कर्तव्य परखें तो समझो कि कुछ अपनी भलाई है, सम्हालना क्या है ? वही एक बात करलो। क्या ? भेदविज्ञान । अपने स्वरूप की दृष्टि कर लो, यदि विज्ञान प्रबल होगा तो क्लेश नहीं हो सकता है । यह ज्ञानी तो यह समझ ही रहा है कि आनन्दस्वरूप ही मेरा है । मैं कहाँ किसी पर से आनन्द की आशा लगाऊँ, किसी पर से मुझे आनन्द नहीं मिलता, न मिला है और न मिल सकेगा । आनन्द तो मेरा स्वरूप ही है । मैं ही अपने आनन्दस्वरूप को भूलकर बाहरी क्षेत्र में उपयोग लगाता हूँ तो दुःखी हो जाता हूँ । मुझे बाहर जानने से कुछ काम नहीं पड़ा है । बाह्य निमित्त से मेरे ज्ञान का विराम भी नहीं होता है । मैं स्वयं ज्ञानमय हूँ । जब अपने ज्ञानस्वरूप को जानूँ तो ज्ञान का उसमें विकासहै । ऐसा मैं स्वत:सिद्ध सनातन चेतन हूँ । मरण ही कहाँ है ?

**आत्मा के मरण का अनवकाश** –प्राणों के वियोग का नाम मरण है । मेरे प्राण हैं ज्ञान और दर्शन । पदार्थ का जो अभिन्न स्वरूप है जिसके मिट जाने पर पदार्थ मिट जायगा, उसको प्राण कहा करते हैं जैसे अग्नि का प्राण है गरमी । गरमी न रह जाय तो अग्नि मिट जाया करती है, ऐसे ही मुझ आत्मा का प्राण है ज्ञान-दर्शन। स्वभाव मेरे में से निकल जायगा तो मेरे प्राण न रहेंगे । मेरे प्राण हैं ज्ञान और दर्शन । ये प्राण मेरे से त्रिकाल भी दूर नहीं हो सकते । वह ही मेरा स्वरूप है । तब फिर मरण क्या चीज है ? यह ज्ञानी पुरुष तो निशंङ्क रहता हुआ अपने आपमें अपने ज्ञानानन्द स्वरूप को अनुभवता हुआ एक चिन्मात्र के अनुभवरूप ही परिणमता रहता है । ये शारीरिकक्लेश अज्ञानी को लगते हैं, ज्ञानी ने अमृत पान किया है उसको कोई कष्ट न होगा और उसका कभी विनाश न होगा । अमृत है ज्ञान । जो न मरे उसे अमृत कहते हैं न 'मृतं इति अमृतम्' ऐसा कौन सा तत्त्व है जो मरता नहीं है, जगत में जो कुछ दिख रहा है, फूल हो, फल हो या कोई पानक हो ये सब मायारूप हैं, मिट जाने वाली चीजें हैं, जो मिट सकते हैं, मिट जाते हैं वे दूसरे को अमर कैसे करेंगे ? अमृत तो ज्ञानस्वभाव है, स्वभाव कभी नहीं मरता है, इस अमृत अमर ज्ञानस्वभाव का जो ज्ञान द्वारा रसपान करता है वह अमर है, अभी भी अमर है, शरीर से न्यारा हो रहा है, किन्तु वह अमर है, क्योंकि उसकी दृष्टि में अमर हूँ, ऐसा भली भाँति समाया है ।

**अविवेक और विवेक में लाभ व अलाभ** –यह अज्ञानी जिस शरीरादिक में आत्म-बुद्धि की दृढ़ता ला रहा है, यह मैं हूँ और जब कल्पना में कुछ दूसरा बन गया है सो शरीर के पाने को अपना जन्म समझता है और शरीर से जुदा होने को मरण समझता है । 'तन उपजत अपनी उपज जान, तन नसत आपको नाश मान ।' इस कुबुद्धि से धैर्य सब खो दिया, अत: अधीरतापूर्वक उसने समय गुजारा है तथा मरणकाल आने पर बहुत से बंध करके अगले भव में खोटी गति पाकर दुःखी रहता है । सबका इलाज है एक—भेदविज्ञान करना—यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसे ही लक्ष्य पर जम जावें, वही दृष्टि में रहे, इसके अतिरिक्त अन्य सब समागमों को भिन्न, अहित, मायामय समझो तो जीवन सुख से परिपूर्ण रहेगा और मरणकाल में भी न कोई भय होगा और न कोई शङ्का रहेगी ।

## श्लोक-77

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मन: ।

मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्र वस्त्रान्तरग्रहम् ॥७७॥

**यथार्थ भेदभावना में निर्भयता** –आत्मस्वरूप में ही जिसकी दृढ़ता से आत्मा की प्रतीति है, ऐसा अन्तरात्मा पुरुष शरीर की अवस्था को—चाहे बालपन, वृद्धपन, युवापन अथवा मरण आदि किसी भी प्रकार की अवस्था हो, उस अवस्था को अपने से भिन्न मानता है और इस प्रकार मरण के अवसर पर निर्भय होता हुआ अपना लक्ष्य बनाए है । उस समय वह यों समझता है कि जैसे कोई पुरुष एक वस्त्र को छोड़कर नवीन वस्त्र ग्रहण कर लेता है उसमें वह कुछ भय नहीं मानता है । इसी प्रकार यह आत्मा एक शरीर को छोड़कर नवीन शरीर ग्रहण कर लेता है । जितने भी क्लेश हैं वे सब परवस्तुओं के लगाव से हैं । राग-द्वेष भाव के समान, अज्ञान-मोह भाव के समान अन्य कोई शत्रु नहीं है, यह ही एक शत्रु है दूसरा कोई शत्रु नहीं है ।

**चेतन तत्त्व का अन्य चेतन तत्त्व के साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध का अभाव** –देखो भैया, विचित्र बात कि अचेतन के साथ तो मेरानिमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध हो जाता है, पर चेतन के साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता । कोई कहे कि उपदेश दे रहे हैं और उसे सुनकर लोग चेत जाते हैं, सावधान हो जाते हैं तो उन श्रोताओं के उपकार के लिये, सावधानी के लिये, ज्ञान-विकास के लिये, यह वक्ता का आत्मा निमित्त हुआ ना ? खूब ध्यान से निश्चय कर लो अपना निमित्त नहीं हुआ । उस श्रोता ने वक्ता के आत्मा से कुछ नहीं लिया, श्रोत्रइन्द्रिय द्वारा भाषा वर्गणा का परिणमन ग्रहण किया, श्रोता की सावधानी में निमित्त वचन हुए, वक्ता का आत्मा नहीं । हाँ, उस वचन के लिये वक्ता का आत्मा निमित्त है, हर एक आत्मा के लिए दूसरा आत्मा निमित्त नहीं हो रहा है । खूब परखलो विचित्रता – कि कैसी उल्टी गंगा बहाई जा रही है, एक जीव का दूसरे जीव के साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध तक तो होता नहीं और मान रहे हैं अपना सब कुछ कुटुम्ब और रिश्तेदार आदि को । श्रोतावों ने जो अपना सुधार किया उनके इस सुधार में जो सूत्र-उपदेश के वचन निमित्त हुए, तो देखो एक जीव के उपकार में ये वचन अचेतन निमित्त हो गये और वक्ता के वचन निकले तो उन वचनों में यह वक्ता का जीव निमित्त हुआ । तो अचेतन का चेतन से तो कदाचित् किसी रूप में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, पर चेतन का चेतन के साथ सम्बन्ध नहीं है, लेकिन मोही जीव इस तथ्य को भूलकर किसी भी चेतन के प्रति अपना मोह-परिणाम, ममता-भाव लगाये रहते हैं ।

**उत्कृष्ट वैभव** –सबसे उत्कृष्ट वैभव है यथार्थ ज्ञान; धन, सम्पदा वैभव नहीं हैं, ये तो मोह की नींद में जिन-जिनको स्वप्नये आ रहे हैं उनकी यह परस्पर बड़प्पन की बात है । वैभव तो वह है जो शान्ति, संतोष उत्पन्न करे, यही वास्तविक अमीरी है । जो इस अमीरी को ला सके उसे उत्कृष्ट वैभव कहते हैं ।

यह सामर्थ्य यथार्थ ज्ञान में है । योगिराज साधुजन जंगल में अकेले विचरते हैं । उन्होंने राजपाट छोड़ा, आराम छोड़ा और वे जंगल में अकेले रहते हैं, उन्हें वहाँ संतोष मिला । धन, सम्पदा जब तक साथ थी तब तक अशान्ति रही, और धन, सम्पदा में उन्होंने संतोष न पाया, उसका परित्याग करके अकेले निर्जन वन में अपने आपसे जो मिलन हो रहा है उससे उन्हें शान्ति मिली । उत्कृष्ट वैभव यथार्थ ज्ञान है ।

**अज्ञान में सन्तोष का अभाव** –अज्ञान में संतोष हो ही नहीं सकता है । पर वस्तु के सम्बन्ध की बुद्धि रखकर कुछ भी करतूत कोई करे उन सब करतूतों में इसके भीतर मोह पड़ा हुआ है, पर वस्तु के साथ सम्बन्ध मानने की प्रतीति पड़ी हुई है, सम्बन्ध हैनहीं और मान रहे हैं । कोई पुरुष किसी भी दूसरे की स्त्री को अपना मानता फिरे और अपनी जैसा व्यवहार करे तो उसका क्या फल होगा ? दंड मिलेगा, ठुकाई-पिटाई होगी, ऐसे ही कोई भी पुरुष इन पर वस्तुओं को, धन, वैभव, घर, शरीर आदि दूसरी चीजों को अपनी मानता फिरे और उनके साथ अपनी जैसा व्यवहार करे तो उसका फलक्या होगा ? दंड । मगर इस दंड को देने वाला इस लोक में कोई नहीं है, प्रकृति दंड देती है । प्रकृति का अर्थ है कर्म कर्मोदय इसका दण्ड दे देता है । लोक में अन्याय कहीं नहीं । जो लोग इस जीवन में अन्याय करके कुछ सम्पदा प्राप्त कर लेते हैं अथवा इज्जत प्राप्त कर लेते हैं वे अन्याय करके नहीं प्राप्त कर पाते, उनका पूर्वकृत भाव वैसा था, वर्तमान में पुण्य का उदय है जो उन भावों से बाँध लिया गया था उस उदय में यह सब हो रहा है, अन्याय नहीं हो रहा है ।

**परिणमनों में विधिविरुद्धतारूप अन्याय का अभाव** –भैया ! यह पूर्व की कमायी है जो वर्तमान में मिल रही है । अब इस कमायी को पाकर, इस सम्पदा को प्राप्तकर खोटा भाव करे, अन्याय करे तो यह भी किसी प्रकार के कर्मोदय की प्रकृति का फल है, यह भी अन्याय नहीं है और इस अनीति के परिणाम से जो कर्म बँधा उसका फल आगे मिलेगा, वहाँ भी अन्याय नहीं है, निमित्त-नैमित्तिक भावपूर्वक कार्य हो रहे हैं इस कारण अन्याय नहीं कहना चाहिए । सब न्यायसिर हो रहा है । यह वस्तु-परिणमन की ओर से कहा जा रहा है, व्यवहार मार्ग में नहीं कहा जा रहा है । व्यवहार मार्ग में तो अब के इस आचरण को अन्याय कहा ही जाता है और वहाँ कानून और व्यवस्था बनायी ही जाती है पर निमित्त-नैमित्तिक भाव का उल्लङ्घन कहीं नहीं होता है । इस दृष्टि से किसी भी परिस्थिति को अन्याय नहीं कह सकते हैं, हो रहा है ऐसा । जो पुरुष शरीर में आत्मबुद्धि करता है, शरीर की अवस्था को अपनी अवस्था मानता है उसको मन को न रुचने वाली अवस्था के होने पर खेद होगा ही, किन्तु जो शरीर की अवस्था को अपने आत्मा से भिन्न मानता है, ऐसा पुरुष निर्भय रहता है । कुछ भी परिस्थिति हो घर की, सम्पदा की, परिजन की, यह तो वहाँ ज्ञाता-दृष्टा रहता है यह तो अपने ज्ञातृत्व-भाव में आनन्द लिया करता है, कहीं कुछ हो, कर भी क्या सकता है यह दूसरे में । यह स्वरूपदृष्टि से कहा जा रहा है । इस कारण यह ज्ञानी सदा अपने आप में प्रसन्न रहा करता है ।

**परिणाम पर लाभ-अलाभ की निर्भरता** –भैया, खोटे परिणाम होना इस जीव पर एक विपित्त है और कोई दूसरी विपत्ति नहीं है । गरीबी आ जाय, दूसरे लोग भी सताने लगें; लोग विश्वासघात कर जायें जो कोई

जो कुछ कर जाय वह उनकी प्रवृत्ति है, किन्तु खोटा परिणाम उत्पन्न न हो, किसी का अहित करने की भावना न जगे, हितरूप भावना हो तो वहाँ कोई नुकसान नहीं है । भले ही कोई धन लूट ले जाय, छीन ले जाय, टोटा पाड़ दे, धोका देकर नुकसान कर जाय, जो चाहे हो जाय, अपने परिणामों में, अपने आशय में यदि दुष्टता नहीं आती तो समझ लीजिए कि अपना कुछ नुकसान नहीं है, और परिणामों में खोटा आशय आ जाय, दूसरे को तुच्छ मान लिया जाय, अपनी बड़ाई करने के लिये, अपना यश रखने के लिये दूसरे की इज्जत उतारनी पड़े, कुछ खोटा भाव करके यह अपना यश बढ़ायें या सम्पदा बढ़ायें, तो कुछ नहीं बढ़ाया, घाटे में ही रहा ।

**परिणाम पर लाभ-अलाभ की निर्भरता पर दृष्टान्त –**जैसे महान श्रुतज्ञान उत्पन्न करने के लिये यह मनुष्य अध्ययन कर-करके श्रुतज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता, पढ़कर, यादकर, रटकर अध्ययन करके यह श्रुतकेवली नहीं बन सकता, श्रुतकेवली तो एक आंतरिक तपस्या के बल पर होता है, श्रुतकेवली सम्यग्दृष्टि पुरुष होता है, वह परमार्थजीव-स्वभाव को, अंतस्तत्त्व को दृष्टि में रखकर उसकी उपासना में लगता है तब उस स्वभाव में केन्द्रित किये गये उपयोग के कारण श्रुतज्ञान इतना विस्तृत हो जाता है । ऐसे ही यह यश है या अन्य सुख है । ये सब भी प्रयत्न से, श्रम से नहीं किये जा सकते; किन्तु दया, दान, उपकार, मन्द कषाय, भक्ति आदि से मन्द कषायों के कारण जो प्रकृतिबन्ध हुआ है उस प्रकृति के उदय होने पर ये लौकिक-लोकोत्तर वैभव सब स्वयं उपस्थित हो जाते हैं ।

**यथार्थ ज्ञान की महनीयता –**सबसे उत्कृष्ट वैभव है तो यथार्थ ज्ञान है और सबसे उत्कृष्ट व्यवसाय है तो यथार्थ ज्ञान करना है । जो जीव एक निर्णय करके केवल ज्ञानार्जन के लिए ही उतारू होते हैं, इस ज्ञान के समक्ष, इस ज्ञानार्जन के समक्ष किसी भी जड़ धन-सम्पदा का मूल्य नहीं आँकता है, ऐसे ज्ञानार्जन की धुनवाला पुरुष, ज्ञानार्जन करके एक उत्कृष्ट वैभव प्राप्त करता है, यही अन्तिम पुरुषार्थ है । ऐसे ज्ञानी ने अपने आत्मस्वरूप को पकड़ा, सहज शुद्ध, सहज बुद्ध इस अन्तस्तत्त्व का कैसे ग्रहण किया उसे यह दिखता है जैसे कपड़े के भीतर पुरुष शरीर है, वह अलग है ।कपड़े में रहकर भी कपड़े के स्वरूप में नहीं है, अपने स्वरूप में है । ऐसे ही इस देह के भीतर रहकर भी यह मैं इस देहरूप नहीं हूँ, न मुझरूप देह है । ऐसे देह से स्पष्ट पृथक् निजआत्मतत्त्व को ग्रहण करने वाले ज्ञानी जीव किसी भी अन्य पदार्थ की अवस्था से अपने को उस रूप नहीं देखते हैं । खोटा परिणाम हो तो उसे ज्ञानी हानि समझता है । विशुद्ध परिणाम जगे तो उसे यह लाभ समझता है । इसके समक्ष जड़ धन-सम्पदा का कोई मूल्य नहीं है ।

**परपरिणति के यथार्थ ज्ञाता के खिन्नता का अभाव –**जैसे जीर्णवस्तु को छोड़कर नवीन वस्त्र को धारण करने में कोई पुरुष क्लेश नहीं मानता है । ऐसे ही प्रवर्तमान शरीर छोड़कर नवीन शरीर को ग्रहण करने में किसी भी ज्ञानी ने खेद नहीं माना, अटक नहीं माना है, इसी कारण वह निर्भय होता हुआ आत्मस्वरूप को देखता-मानता रहता है । अन्तर्यामी पुरुष स्व और पर के भेद का यथार्थ ज्ञानी होता है, इस कारण

पुद्‌गल का कोई-सा भी परिणमन हो उन परिणमनों को देखकर खेदखिन्न नहीं होता है । अज्ञानी जीव तो मकान की एक ईंट खिसक जाय तो उसके चित्त में भी कुछ खिसक उत्पन्न हो जाती है ।

**निगोद की कवायद का अभ्यास** –अज्ञानी जीव किसी चेतन पर इतना मोह कर लेता है कि वह उसके सुख में अपने को सुखी समझता है और उसके दुःख में अपने को दुःखी समझता है यों कह लीजिये कि उसकी श्वास में इसकी श्वास है । ठीक कर रहा है यह अज्ञानी, क्योंकि इस भव को छोड़कर आगे निगोद पर्याय मिलेगी तो निगोद पर्याय में यही काम करना पड़ेगा ना, वहाँ एक श्वास में सभी की श्वास है, एक जीव जन्मता है तो अनन्त निगोद जन्मते हैं, एक जीव मरता है तो अनन्त जीव मरते हैं । शरीर एक है, स्वामी जीव अनेक हैं ऐसी स्थिति होती है निगोद में । सो निगोद में जायगा तो वहाँ यह कवायद करनी पड़ेगी कि श्वास में श्वास मिले, जन्म में जन्म मिले, मरण में मरण मिले सो यह अभ्यास यह अज्ञानी पुरुष कर रहा है । अपना इष्ट मानेगा स्त्री पुत्र परिजन को । उनके सुख में सुखी है, उनके दुःख में दुःखी है । ये सब कवायदें निगोद में करनी पड़ेगी उसका ही अभ्यास हो रहा है ।

**ज्ञानी का ज्ञातृत्व** –ज्ञानी जीव तो अपने पाये हुए शरीर से भी अपने को न्यारा निरख रहा है । कैसा विशुद्ध ग्रहण है ज्ञानी का । जैसे बहुत सी मिली हुई चीजों में से चुम्बक की सूई लोहे की सूईयों को समेट लेती है, ईंट आदि सब टुकड़े पड़े रह जाते हैं, ऐसे ही यद्यपि यहाँ सब कुछ भरा पड़ा है, पर यह ज्ञानी अपने भावरूपी उपयोग-दृष्टि के चुम्बक से इन सब में से केवल स्वरूप को ग्रहण कर लेता है । ऐसी जिसकी दृढ़ स्वरूप-दृष्टि है वह मरणकाल में भी भय नहीं करता है और निर्भय रहता हुआ ज्ञाता द्रष्टा रहता है ।

## श्लोक-78

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।

जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

**व्यवहारसुषुप्ति में आत्मजागृति** –जो जीव व्यवहार में सोया हुआ है वह आत्मा के सम्बन्ध में जागृत रहता है और जो आत्मा के विषय में सोया हुआ है वह व्यवहार में जागृत रहता है । यहाँ सोने का मतलब है बेखबर; कुछ न करने वाला । जो जीव व्यवहार में बेखबर है, व्यवहार से उदासीन है, व्यवहार की प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप चेष्टाओं में जो नहीं फँसता है, अनासक्त रहता है, व्यवहार का प्रयत्न नहीं करता है वह आत्मा के सम्बन्ध में सावधान, जागृत रहता है; किन्तु जो आत्मा के सम्बन्ध में सोया हुआ है जिसे आत्मतत्त्व की कुछ भी सुध नहीं है, मैं क्या हूँ अपने सहजस्वरूप का रंच भी भान नहीं है ऐसे आत्मा के सम्बन्ध में, बेखबर सोया हुआ जीव व्यवहार में जगता है ।

**सुषुप्ति और जागृति का विश्लेषण** –किसी जगह सोने को अच्छा माना है और जगने को बुरा माना है । जैसे तीन स्थितियाँ बतायी गयी हैं – जागृति, सुषुप्ति और अंत:प्रज्ञ । यह वेदांत दर्शन में है । जागृति तो बुरी चीज है, सुषुप्ति उससे अच्छी चीज मानी है और अंत:प्रज्ञ उससे उत्कृष्ट अवस्था है, उस सिद्धांत में यह दृष्टि रखी है कि जो बहुत प्रयत्न करता है चेष्टा करता है वह तो जगने वाला है और जो सोये हुए की भाँति समाया हुआ है, सिमटा हुआ है वह है ज्ञानीपुरुष और जो सर्वज्ञ हो जाता है वह है अंत:प्रज्ञ । बात में कुछ अन्तर नहीं आया । जब कभी सोये हुए का अर्थ बेखबर लें, कुछ पता नहीं है, कुछ सही काम ही नहीं कर सकता है तो उसका नाम है सुषुप्ति, वह हुई जघन्य अवस्था, और जो विवेकशील है जागता है, सावधान है वह स्थिति हुई जागृति, यह है ज्ञान की अवस्था । और, जहाँ निर्दोष सर्वज्ञ हो जाता है वह है अलौकिक अवस्था ।इस श्लोक में सोने का और जागने का कोई एक अर्थ नहीं बांधा गया है । व्यवहार में सोया हुआ है यह हैरानी की स्थिति और आत्मा के सम्बन्ध में सोया हुआ है यह है अज्ञानी की स्थिति । यों कहलो अथवा यों कहलो कि जो आत्मा में जगा हुआ है वह तो है ज्ञानी की स्थिति, जो आत्मा में सोया हुआ है वह है अज्ञानी की स्थिति ।

**व्यवहारजागृति में आत्मसुषुप्ति** –जो पुरुष बाह्य परिग्रहों का त्याग करके भी तन, मन, वचन की चेष्टावों में ही धर्म समस्या का सुझाव समझते हैं, यो बैठता यों अतएव ये व्रत आदिक व्यवहार की वृत्तियाँ सहज होती है, किन्तु अज्ञानी तो उन तन, मन, वचन की प्रवृत्तियों को निभाकर यह संतोष करता है कि हमने मुनिव्रत पाल लिया अथवा अपना धर्म पूरा निभा लिया ऐसा संतोष करता है, सो यह व्यवहार में जगा हुआ कहलाता है और आत्मा के विषय में सोया हुआ है ।

**निश्चय व व्यवहार में मुख्यता व गौणता** –जैसे एक भोजन का ही प्रकरण ले लो । आहार शुद्ध बनाने में दो शुद्धि चलती हैं – एक तो भोजन की शुद्धि – भोजन निर्दोष जीवबाधारहित मर्यादित होना चाहिए – यह तो है भोजन की शुद्धि । और, दूसरी शुद्धि है चौका, कपड़े बनाने वाला, ये सब बहुत शुद्ध होने चाहिये । पर के लेप से रहित कोई छू न सके इस तरह का होना चाहिये । ठीक है फिर भी प्रत्येक पुरुष के इन दो में किसी एक पर प्रधान दृष्टि होती है और एक पर गौण दृष्टि होती है । जैसे इनमें अन्तर है, वैसे ही अज्ञानी के निश्चय और व्यवहार में अन्तर है । जिसकी प्रधान दृष्टि गुण दृष्टि की है, आत्मविकास की है, आत्मोन्मुखता की है वह व्यवहार में सोया हुआ है । भले ही सर्व प्रवृत्तियाँ आगमानुकूल हो रही हैं, पर सहज हो जाती हैं अर्थात् उसमें ऐसी योग्यता पड़ी हैं कि अयोग्य प्रवृत्तियाँ नहीं होती हैं । ज्ञानदृष्टिवाला पुरुष क्या विषय-कषायों में फँसने वाली प्रवृत्तियाँ करेगा ? नहीं कर सकता है, तो सीधे सहज ही उसके आगमानुकूल वृत्तियाँ चलेंगी और जो व्यवहार में ही जगा हुआ है, जो कुछ आँखों से दिखता है यह सच है, यह श्रावक है हम साधु हैं, हमको इस तरह से चलना चाहिये तब तो हम साधु हैं, इन श्रावकों से हमारा विशिष्ट पद है, हम प्रतिमावों से भी और ऊपर का आचरण रखने वाले हैं, हमारी क्रियावों में कोई कमी नहीं रहना चाहिये नहीं तो इन श्रावकों में फिर धर्म की अप्रभावना हो जायगी । कैसी धर्म की धुन है, मगर ये सब धुन बाहरी धुन हैं । इनमें आन्तरिक मर्म का स्पर्श नहीं है । ऐसी ही बात सहज रूप से

ज्ञानी साधुवों की भी हो जाती है, पर सारा फर्क मुख्यता का और गौणता का है ।

**आशयभेद के अन्तर** –जैसे कोई पुरुष जीने के लिए खाया करते हैं और कोई पुरुष खाने के लिए ही जिया करते हैं । एक का ध्यान है कि जीना जरूरी है, क्योंकि आत्महित का काम बहुत पड़ा है इसलिए खाना ही चाहिए । एक खाकर भी उद्देश्य धर्म का बनाये है अत: उसके पुण्यबंध है । एक पुरुष सोचता है कि खूब खाओ-पियो मौज उड़ाओ, इसीलिए तो मनुष्य हैं । कीड़े–मकोड़े, पशु-पक्षी इनको कहाँ नसीब है, अगर हुए हैं मनुष्य और मिले हैं अच्छे हाथ- पैर, अच्छे साधन मिले हैं: अब भी न खायें, न बढ़िया साधन बनायें तो मूर्खता है, कुछ ऐसा भी सोचने वाले हैं । इन दोनों ने खाया तो सही, प्रवृत्ति तो समान है, यह भी खा रहा है, वह भी खा रहा है, पर आशय के उनके भेद से अन्तर में बड़ा अन्तर हो गया है ।

**परस्पर विरुद्ध भावों का एकत्र अभाव** –जैसे एक म्यान में दो तलवार नहीं समा सकती हैं अथवा एक सुई कपड़े को दोनों तरफ नहीं सी सकती है अथवा एक साथ दो दिशावों में नहीं चला जा सकता है । कानपुर भी जाना है और जसवंतनगर भी जाना है तो एक साथ दोनों जगह हो आवें ऐसा नहीं हो सकता है । ऐसे ही एक आत्मा में भी दो विरुद्ध परिणतियाँ नहीं हो सकती हैं । या तो व्यवहार में आसक्ति रहे या आत्मदृष्टि बनाये । व्यवहार के काम में भी चित्त लगाये रहे और ज्ञानदृष्टि भी बनी रहे ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं ।

**रोगों की गुप्त चोटें** –इस राग भाव में जो कि इतना गुप्त बनकर रहा करता है कोई-कोई पुरुष अपनी मालूमात में ऐसा समझते हैं कि मुझे कोई झंझट ही नहीं है और न किसी में हमें राग है न द्वेष है, हमें सब एक हैं, घर में रह रहे हैं काम सब कर रहे हैं और ऐसा भी मालूमात-सा हो रहा है कि मेरे को न बच्चे से राग है या अन्य किसी से है, न किसी से द्वेष है, लेकिन भीतर में राग बराबर लगा हुआ चला जा रहा है । न होता राग तो आत्मानुभव बना रहता खूब; पर आत्मानुभव के दर्शन नहीं होते । यह एक प्रमाण है कि हमारे अन्तर में रागभाव बराबर पड़ा हुआ रहता है ।

**रागसंस्कारों के दर्शन का साधन** –कभी-कभी रागों के विषयों की गिनती भी नहीं मालूम पड़ पाती है । काम में लगे हैं, कोई एक काम जिसको जिसकी धुन है मुख्य बन गया है, काम में लगे हैं, अथवा आजीविका का ही कोई काम है, धनसंचय की ही एक धुन बनी है तो व्यापार में लगे हैं, किसी काम में लगे हैं उस समय ऐसा लगता है कि मुझे किसका राग है । पुत्र का, मित्र का, स्त्री का, पोजीशन का किसी में भी तो राग नहीं है । लगता है ऐसा, किन्तु राग कितने पड़े हुए हैं इसका सुगमता से दर्शन करना है, तो उसका सीधे दर्शन करने के साधन दो हैं, एक तो सामायिक और एक स्वप्न । हमारे भीतर में कितना राग पड़ा है उसकी मालूमात सामायिक में पड़ जाती है । कोई दुकान में लग रहे हैं तो कितना राग है, इसकी कुछ खबर नहीं है, पर जाप ले करके पाल्थी मारकर जरा सामायिक में बैठ तो जाओ अथवा पद्मासन करके हाथ पर हाथ रखकर सामायिक में बैठो तो कितनी जगह दिल जाता है, कहाँ-कहाँ

की कल्पनाएँ उठती है, क्या-क्या दृश्य दिखते हैं जरा सी देर में कहाँ उड़ गये, कहाँ जा रहे हैं । वे सारी गिनतियाँ कुछ-कुछ सामायिक में गिनलो कि हमारा इतनी जगह राग है ।

**रागसंस्कारों के दर्शन का द्वितीय साधन –**राग के विषयों की विविधता का, जब कोई स्वप्न आ जाय तो उस स्वप्न से भी अंदाज कर लो । जैसा चित्त होगा वैसा स्वप्न में आयगा । स्वप्न में बनावट नहीं चल सकती है, इसके लिऐ वही भाव प्रत्यक्ष हो जायगा जिस भाव में वर्त रहे थे पहिले । कोई मायाचारी पुरुष है वह जगते हुए में तो मायाचार कर ले अर्थात् अन्तर के भाव किसी दूसरे को प्रकट ही न होने दे । ऊपर से खूब हाथ जोड़ रहे हैं, बड़े नम्र वचन बोल रहे हैं, मन की बात प्रकट नहीं होने देते हैं, जगते हुए में करते जाओ मायाचार, पर स्वप्न में तो जैसा हृदय है वैसा ही परिणमन दिख जायगा । फिर समझ लेना कि कितना राग बसा हुआ है ।

**अनर्थ का स्रोत –**यह सब राग अपनी बरबादी के लिए है । साथ तो कुछ जायगा नहीं, शरीर तक भी न जायगा; केवल अकेला, ज्ञानवान यह जीवास्तिकाय उदयवश कहीं पहुँच जायगा, पर यह देह जरा भी न जायगी । धन, सम्पदा की तो कहानी ही क्या है । यह सब ठाठ यहीं पड़ा रह जायगा । कितना धन जोड़ने के लिये अन्याय का परिणाम किया जा रहा है । जुड़ गया बहुत कुछ तो एक बार में ही छोड़कर जा रहे हैं, तत्त्व क्या निकला ? कितना असहाय है यह जगत ।यहाँ जीवन-भर श्रम किया, धन संचय किया, अब अचानक ही सब कुछ छोड़कर जाता है । लाभ क्या हुआ ? कदाचित् यह सोचो कि हम भले ही छोड़कर जा रहे हैं, ठीक, मगर हम अपने बच्चों के लिए तो छोड़कर जा रहे हैं । आत्मन् ! तेरा कहाँ कौन बच्चा है, कौन है तेरा ? इस भ्रम ने ही तो तुझे बरबाद किया है । जगत में जितने जीव हैं सब एक समान अपने से अत्यन्त जुदे हैं, रंच भी सम्बन्ध नहीं हैं, पर कुछ तो अपनी कमजोरी और कुछ दूसरे जीवों से मनुष्य से, स्त्री से, पुत्र से कुछ राग भरी बात और चेष्टायें मिलीं इससे यह मोह का सम्बन्ध तगड़ा होता चला जा रहा है ।

**आत्मसावधानी का अनुरोध –**यह राग-अंश जब तक रहता है तब तक यह जीव आत्मानुभव का पात्र नहीं हो सकता है । राग-द्वेषभाव का कार्य ही आकुलता को उत्पन्न करता है । जो इस भाव में जगता है वह आत्मा के विषय में बेसुध है । तो ये दोनों बातें, क्या कि आत्मा की उपासना हो जाय और व्यवहार के विषयों के ये सुख भी न छूटें, मैं इस मायामयी दुनिया में अपना नाम भी कर जाऊँ और परमार्थ विशुद्ध निराकुलता का आनन्द भी ले लूं—ये दो यत्न एक साथ नहीं हो सकते हैं । अब जरा दूसरी बात यह भी देखिये कि व्यवहार की नामवरी को छोड़ना यों इस दुनिया के लिए मैं कुछ न रहा, और आत्मा का लगाव छोड़कर इस व्यवहार के स्वरों में ही लगते हैं तो मैं ज्ञानियों के लिए और अपने लिए कुछ न रहा । पर यह तो सोचो कि मैं अपने लिए अपनी दृष्टि में अथवा ज्ञानी सन्तों की दृष्टि में बुरा बना रहूँ यह नुकसानदेह है या इस मायामयी दुनिया की निगाह में मैं न जँचूँ यह नुकसानदेह है । दिखती हुई दुनिया में अपने लिए कुछ नहीं है ।यहाँ किन्हीं लोगों में मेरा यश हो, किन्हीं लोगों के चित्त में मेरे लिए घर हो तो इससे कहीं परभव न सुधर जायगा, अथवा इस लोक के भी संकट न मिट जावेंगे । संकट तो कहीं

बाहर है ही नहीं । जैसा मन से हम सोचें उसके अनुकूल सुख अथवा दुःख हो जाया करते हैं ।

**परमार्थ जागरण का यत्न** –भैया ! हम अपने में जगें, अपने में प्रकाश पायें । आत्मप्रकाश से हमारा समस्त भावी अनन्तकाल प्रकाशमय रहेगा, आनन्दमय रहेगा और अपने बेसुधपने से इस मायामयी दुनिया में उपयोग के रमाने से हम जन्ममरण के संकट ही पाते रहेंगे । इस कारण अपने आपमें जगना और व्यवहार से बेसुध रहना यह है कल्याण का मार्ग । व्यवहार में आदर न करते हुए, आसक्ति न रखते हुए हम बहुत-बहुत काल केवल ज्ञानस्वरूप का अनुभव न करके शुद्ध आनन्द से तृप्त रहा करें इसमें ही आनन्द है और भलाई है ।

## श्लोक-79

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।

त्योन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥

अपने आत्मा में अपने आत्मा को देखकर और बाहर में देहादिक को देखकर उन दोनों में भेदविज्ञान करने से और उस ज्ञान के अभ्यास से यह जीव ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है कि जहाँ से फिर यह च्युत नहीं होता ।

**व्यामोह के समूल विनाश के उपायक्रमों में प्रथम पर्याय ज्ञानरूप उपाय** –इस जीव को अनादि काल से पर्याय का बोध है; पर्याय का पर्यायरूप से बोध नहीं, किन्तु पर्याय को आत्मस्वरूप मानने के रूप से बोध है ऐसा इस पर्यायमुग्ध जीव को इस पर्यायव्यामोह के गर्त से बचाने का क्या उपाय है वह उपायक्रम से सुनिये । प्रथम तो उस ही प्रकार के पर्याय का ज्ञान बनने दीजिए जो करणानुयोग में मार्गणावों के स्थान बताये हैं, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारक इनका जो भेदविस्तार कहा है वे सब पर्यायें हैं । पर्यायों का खूब ज्ञान कीजिए, पर्यायें अध्रुव होती हैं अर्थात् अनादि अनन्त नहीं होती हैं, कभी हुई हैं और कभी मिट जाती हैं ।

**व्यञ्जन पर्यायों का परिज्ञान** –जैसे नरकगति, यह जीवबद्ध पर्याय है । नरकगति प्रारम्भ से ही जीव में नहीं है, और न किसी के अनन्त काल तक रहेगी ।यह नरकगति पर्याय है तिर्यञ्चगति भी प्रारम्भ से नहीं है । मनुष्य गति और देव गति भी इसी प्रकार अध्रुव हैं, गतिरहित अवस्था यद्यपि अनन्त काल तक रहेगी यानी सिद्ध होने के बाद सिद्ध फिर संसारी नहीं बनता, वह सिद्ध ही रहा करेगा, लेकिन यह गतिरहित अवस्था इस जीव में प्रारम्भ से न थी, किसी दिन प्रकट हुई है इस कारण यह भी पर्याय है; गतिरहित शुद्ध व्यञ्जनपर्याय है, इस कारण इसमें प्रतिसमय नवीन-नवीन अवस्थाओं का बनना नहीं विदित होता है ।

**गुणपर्यायों का ज्ञान** –ज्ञान भी एक गुण है और उसकी पर्याय ८ हैं । मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल

और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि । इनमें से कुछ पर्याय तो बहुत जल्दी समझ में आती है कि यह हुयी और मिट गयी । अभी मतिज्ञान हो और थोड़ी देर में मिट जाय, श्रुतज्ञान हो गया, अवधिज्ञान हो गया है और जल्दी बदलकर फिर दूसरे हो जाते हैं । समझ में आता है, पर केवलज्ञान के बारे में यह सोचना जरा कठिन हो जाता है कि केवलज्ञान हुआ और फिर क्या केवलज्ञान मिट गया ? केवलज्ञान होने के बाद फिर वह ज्ञान मिटता नहीं है, लेकिन वह ज्ञानगुण की पर्याय है सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो जैसे केवलज्ञान परिणमन से इस समय सारे विश्व को जाना तो इसके बाद दूसरे समय में जो सारे विश्व का जानन हुआ वह दूसरा केवलज्ञान है । ऐसे ही प्रतिसमय नवीन-नवीन केवलज्ञान का उदय हो रहा है, किन्तु जानता है वैसा जैसा कि पहिले जानता था ।

**दृष्टान्त पूर्वक केवलज्ञान की वर्तना का समर्थन** –जैसे एक पुरुष सिर पर एक मन का बोझ रखे हुये खड़ा है ज्यों का त्यों, जरा भी नहीं हिलता-डुलता, आध घंटे बराबर खड़ा हुआ है । अब मोटे रूप में तो यों दिखता है कि इस आत्मा ने कोई दूसरा काम नहीं किया, वही काम आध घंटे से ज्यों का त्यों कर रहा है खम्भासा खड़ा हुआ । वैसा का वैसा ही वही एक काम है, नया दूसरा काम कुछ नहीं कर रहा, पर उस पुरुष में प्रति सेकेन्ड नया-नया काम हो रहा है, नवीन-नवीन शक्ति खर्च हो रही है, प्रतिसमय ताकत लगाये चला जा रहा है । यदि शक्ति का प्रत्येक क्षण परिणमन हो रहा है तो वहाँ भी नया ही नया काम कर रहा है । चाहे वैसा का वैसा हो किन्तु काम तो नया ही नया हो रहा है । ऐसे ही केवलज्ञान नवीन-नवीन प्रकट हो रहा है केवलज्ञान ही ज्ञान । विसदृश ज्ञान नहीं होता है । लेकिन जानना प्रतिसमय नया ही नया हो रहा है, जानना वही है ।

**पर्यायों के स्रोतभूत गुण का परिज्ञान** –भैया ! पहिले पर्याय का खूब ज्ञान करना चाहिये, फिर यह समझो कि जितनी भी दशायें हैंवे सब दशायें एक शाश्वत गुण की हुआ करती हैं । एक अवस्था से दूसरी अवस्थायें हुई तो वे नाले के किनारे जैसी अलग-अलग नहीं हैं उन दोनों के मध्य में एक तत्त्व है जो पहिले किसी दूसरी अवस्था रूप था, अब किसी दूसरी अवस्था रूप हो गया । जैसे आम में रंग बहुत बदलते हैं । जब बहुत छोटा आम है तब उसमें काला रंग होता है, जब कुछ बड़ा होता है तो नीला रङ्ग हो जाता है और बड़ा हुआ तो हरा रङ्गहो गया; और बढ़ने पर पीला हो गया, खूब पकने पर लाल हो गया, और जब सड़ने लगता है तब सफेद बन जाता है । आम में सब रङ्ग आ जाते हैं क्रम-क्रम से, पर नीले के बाद हरा रङ्ग आया है तो नीला और हरा दो स्वतंत्र अलग चीजें नहीं हैं । जो रूप नीली अवस्था में था वही रूप अब हरी अवस्था में हो गया । रूप गुण वही हैं ।

**गुणों का अभेद एकत्व** –गुण एक शक्ति का नाम है जो चिरकाल रहता है, किन्तु गुण की जो अवस्था है वह पर्याय है, वह होती है और मिट जाती है, तो पहिले पर्यायों का अध्ययन हुआ फिर यह पर्याय किस गुण-शक्ति की है ऐसी शक्तियों का अध्ययन हुआ, फिर यह जानना चाहिए कि ये सब शक्तियाँ बिखरे हुए तत्त्व नहीं हैं, किन्तु वहाँ पदार्थ तो, सत् तो कुछ एक ही है, उस सत् की यह विशेषता जानी गयी है । उस सत् में अनन्त प्रकार की शक्तियाँ हैं । इस प्रकार के गुण के परिज्ञान के बाद फिर द्रव्य को जानो,

इस तरह जैसे अपने द्रव्य गुण पर्याय को जाना, ऐसे ही बाह्य में अन्य पदार्थों के द्रव्य गुण पर्याय को जानो ।

**चेतन की विविक्तता –**ज्ञान में जितना जो कुछ बनेगा वह सब चैतन्य स्वभाव को व्याप करके बनेगा, कहीं पुद्गल के परिणमनरूप न हो जायगा । पुद्गल भी जो कुछ बनेगा वह पुद्गल के गुणों को न लाँघ कर उन गुणों को ही व्यापकर पर्याय बनेगा । यों यह चेतन चैतन्यात्मकता को व्यापकर ही परिणमता है और येदृश्यमान अचेतन पदार्थ अचेतन स्वरूप को व्यापकर ही अपना परिणमन करते हैं, यह तो है और अचेतन के भेद के भाव की बात । मैं चेतन बाकी समस्त अनन्त चेतन के स्वरूप में व्यापकर न परिणमता हुआ उन सबसे विविक्त रहकर केवल चैतन्यस्वरूप को ही व्यापकर परिणमता हूँ ऐसा देहादिक में और आत्मा में स्पष्ट भेद जानो और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव है ऐसे ही ज्ञाता बने रहो जिससे आत्मा में विकल्प होने का अवकाश ही न आये। यों भेदविज्ञान के अभ्यास से और पश्चात् अभेदस्वरूप के ज्ञान के अभ्यास से यह जीव संसार पर्याय को छोड़कर मुक्त हो जाता है ।

**अभ्रान्त दशा में शुद्ध विलास –**भैया ! जब तक भ्रम रहता है तब तक ज्ञान की गति और किस्म से चलती है । जहाँ भ्रम खतम हुआ तो ज्ञान की गति और किस्म से चलने लगती है । राजवार्तिक में एक दृष्टान्त दिया है कि एक पुरुष व्यभिचारी था, किसी अन्य स्त्री का अनुरागी था और पुरुष की माँ, वह भी किसी अन्य पुरुष की अनुरागिणी थी । इसमें भ्रम का उदाहरण दिया जा रहा कि भ्रम में कैसी वृत्ति हो जाती है और सम्यग्ज्ञान का भी उदाहरण दिया जा रहा है कि ज्ञान की झलक आने पर कैसा निर्णय हो जाता है और कैसा खुद का प्रवर्तन होता है । दोनों भिन्न-भिन्न समयों में रात्रि को घर छोड़ कर कहीं जा रहे थे । इधर से वह लड़का जा रहा था । सामने से माँ आ रही थी । रात्रि का समय, अंधेरी रात्रि, मात्र कोई है इतना ही दिखता था । वहाँ पुत्र ने यह समझा कि वह हमारी अनुरागिणी स्त्री है और माँ ने समझा कि यह ही अनुरागी पुरुष है । सो इस भ्रम से उनका चित्त, उनकी वृत्ति में दुर्भाव होने को रहा था । इतने में बिजली चमकी, एक दप भक्कारा-सा हुआ और कुछ दूर से ही दोनों ने दोनों को पहिचान लिया । अब इसके बाद ऐसे शुद्ध ज्ञान का प्रकाश जगा कि वे दोनों पछतावा करके दूर हट गये । भ्रम में भ्रम जैसी प्रवृत्ति होती है और ज्ञान होने पर ज्ञान जैसी प्रवृत्ति ही होनी पड़ती है ।

**दृष्टान्तपूर्वक अभ्रान्त दशा में धीरता का विवरण –**भैया ! अब और भी दृष्टान्त लो सामने रस्सी पड़ी है उसमें साँप का भ्रम हो गया । अपने इस भ्रम के होने पर उस भ्रमी पुरुष को वैसी ही आकुलता होगी जैसी साँप से भय करने वाले को होती है । कुछ देर बाद लक्षण से पहिचाना, विशेष तेज उजाला किया और जान गया कि यह तो रस्सी ही है, तो रस्सी का ज्ञान करने के बाद फिर देखलो उसके भीतर की ज्ञान-वृत्ति एकदम पलट जाती है, सारी आकुलता दूर हो जाती है । अच्छा, अपनी ही बात देखो, जब सोने में कोई स्वप्न आ रहा हो, शेर आ गया है, मेरे समीप आ रहा है, मुँह बाये चला आ रहा है, अब यह खाने को ही है, ऐसा स्वप्न आ रहा हो तो कितना रंज होता है, और उस समय थोड़ी नींद कम हो जाय, कुछ जगने जैसी हालत हो जाय, कुछ जगतासा है और हिम्मत बनाता है, अरे ! मैं तो कमरे में

पड़ा हुआ हूँ, कहाँ है जंगल, कहाँ है शेर ? उसे खुशी हो जाती है । चूंकि भ्रम में दु:खी था, स्वप्न में क्लेश था, इस कारण स्वप्न मिट जाने पर क्लेश मिट गया और उसने बड़ा आनन्द माना । ओह ! मैं न था शेर के पास । मैं तो सुरक्षित हूँ । कितने ही दृष्टान्त लो, भ्रम की हालत में जो परिणति होती है भ्रम मिट जाने पर, ज्ञानप्रकाश होने पर उसकी चित्तवृत्ति ही पलट जाती है ।

**ज्ञानी का अलौकिक आनन्द –**जब इस जीव ने अपने आत्मा में अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को देखा तो एक अद्‍भुत अलौकिक आनन्द का अनुभवन किया जो न इन्द्रिय के अधीन है, न किसी पर के अधीन है । सहज अपने आप में प्रकट हुई वह अनाकुलता है, उस आनन्द का अनुभवन कर लेने पर उसकी वृत्ति अब विषयों में नहीं जमती है । जैसे स्वादिष्ट मिठाई के लोभी को स्वादिष्ट मिठाई खा लेने पर उसे रूखी-सूखी दाल-रोटी में रस नहीं मालूम होता है, ऐसे ही निरुपम, सत्य, स्वाधीन आनन्द का अनुभव कर लेने वाले ज्ञानी पुरुष को इन्द्रिय के विषयों में अनुराग नहीं जगताहै, उसमें आनन्द की कल्पना भी नहीं करता । ज्ञानी पुरुष तो लखपति और करोड़पति की हालत पर दया करता है, मन में उनके दया उत्पन्न होती है कि देखो कुछ भी तो तत्त्व नहीं है इन जड़ वैभवों में, कुछ भी तो सार नहीं है, अट्ट-सट्ट यों ही मिल गया । ये बाह्य पदार्थ हैं, निमित्त पुण्य का उदय है, मिल गये हैं लेकिन वह उस समागम में अपनी बुद्धि फँसाकर बड़ा दुःखी है । ज्ञानी जीव बाह्य वैभव में रुचि रखने वाले ज्ञानी पुरुष पर दया करता है । जिसको ज्ञान जग जाता है और शुद्ध स्वाधीन आनन्द का अनुभव हो जाता है, उसे फिर बाह्य विषयों में रुचि नहीं होती । उसकी दृष्टि अर्न्तमुख हो जाती है ।

**अच्युत आनन्दानुभव की विधि में तथ्य परिचय की प्राथमिकता –**भैया, आनन्द पा लेना आपके अपने हाथ की बात है, पर उस पद्धति से चलें तो आनन्द मिले ।यहाँ के मोही, मलिन, अज्ञानी पुरुषों में अपना कुछ सम्मान, यश-कीर्ति चाहने की बात बना लेना, यह तो सरासर विपदा है । स्वप्न के समय में क्या कोई जानता है कि मुझे यह स्वप्न आ रहा है ? वह ता साक्षात् घटना समझता है । ऐसे ही मोह की नींद का यह सब एक स्वप्न है । इस स्वप्न में यह नहीं मालूम पड़ सकता कि यह सरासर मिथ्या है, व्यर्थ है । उसे तो सब कुछ यहाँ तथ्य ही दिख रहा है । इन लोगों ने यदि मेरी बड़ाई कर दी तो मेरा जीवन है नहीं तो मरने की ही हालत समझिये । तो जहाँ ये कोई विषय नहीं हैं, एक आत्मा के द्वारा आत्मस्वभाव ही अनुभूत हो रहा है ऐसे शुद्ध अमृतपान के बाद इस जीव को बाह्य विषयों में रुचि नहीं होती, उसकी परिणति अन्तर्मुखी हो जाती है । वह विषयों में न फँसकर आत्मा की आराधना की ओर लगता है, आत्मध्यान को बढ़ाता है और ज्ञानमात्र मैं हूँ ऐसी भावना को दृढ़,अनुभवात्मक करके इसके शुद्ध विकास को पा लेता है । इसके बाद फिर इस उत्तम पद से पतन नहीं होता है । यों यह जीव भी विज्ञान के बल से अच्युत अवस्था को प्राप्त होता है ।

## श्लोक- 80

पूर्व दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।

स्वभ्यस्तात्मधिय: पश्चात्काष्ठपाषाण रूपवत् ॥८०॥

जिस आत्मा ने पहले ही पहले आत्मतत्त्व को देखा है उसे यह जगत् पागलों की तरह चेष्टा करने वाला दिखता है, किन्तु वही पुरुष जब आत्मज्ञान में दृढ़ अभ्यस्त हो जाता है तब यह ही जगत काष्ट-पाषाण की तरह चेष्टारहित मालूम होने लगता है ।

**हित के प्रारम्भ में जिज्ञासा का स्थान** –भैया ! आत्मा का विकास होने के लिए सर्वप्रथम जो हित का प्रारम्भ होता है वह जिज्ञासा से होता है । सबसे पहिले इस जीव में यथार्थज्ञान पाने की इच्छा होनी चाहिए । जिज्ञासा के लिए भी विवेक और प्रतिभा चाहिए । जब तक जिज्ञासा नहीं होती है, वास्तविकता क्या है मैं कौन हूँ, यह संसार क्या है, मेरा संसार से क्या सम्बन्ध है,मैं इस जगत का क्या कर सकता हूँ, मैं क्या करता हूँ इत्यादि बातें जानने की जिसे इच्छा ही नहीं है वह धर्ममार्ग में कदम ही क्या बढ़ायेगा । जो जीव विषय-भोगों में अत्यधिक आसक्त है, परद्रव्यों के मोह में अधिक लिप्त रहते हैं उन्हें यथार्थज्ञान करने की इच्छा नहीं उत्पन्न होती । उन्हें तो विषय चाहिए, विषयों के साधन चाहिए, ज्ञान से क्या प्रयोजन ? तो सर्वप्रथम इस हितमार्ग में चलने के लिए जीव में जिज्ञासा जगनी चाहिए ।

**हितमार्ग में ज्ञानाभ्यास का स्थान** –यह आत्मा जिस किसी भी प्रकार जिज्ञासु बन गया तो उसे ज्ञानाभ्यासी होना चाहिए । जो भी उपाय हो, गुरु से पढ़ना, पाठ याद करना, चर्चा में शामिल होना, स्वाध्याय करना अथवा दूसरों को उपदेश देने लगना, हर एक सम्भव बात से ज्ञान का अभ्यास बढ़ाना चाहिए । हम सीखें कि पदार्थ का स्वरूप क्या है । इस जीव ने इस दुनियाँ में अनेक प्रकार से विषयों के सुख भोगे और उनका ही यत्न किया, किन्तु वह सुख टिक नहीं सका, बल्कि उससे कई गुणे दुखों को जुटाकर वह सुख मिट गया । अब जरा ज्ञान का भी तो आनन्द चखिये । हम वस्तु के बारे में जब तथ्य की बात, यथार्थ बात जानते हैं तो उस शुद्ध जानने के फल में कितनी प्रसन्नता होती है और कितना हम प्रकाशवान होते हैं इसका एक अन्दाज कर लो । विषय-सुखों में और यथार्थ ज्ञान के आनन्द में बहुत-सा अन्तर है । अन्तर क्या, विषय-सुख तो कुछ आनन्द ही नहीं है, वह तो मोह की कल्पना है और विडम्बनावों का घर है । जिज्ञासु पुरुष को अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर करके यथार्थज्ञान का अभ्यासी होना चाहिए । ज्ञान के अभ्यास के कितने ही उपाय हैं । उन सबमें से सीधा उपाय है गुरुमुख से अध्ययन करना, और फिर इसके साथ ही साथ शेष भी उपाय करना । जैसे स्वयं पढ़ना, याद करना, दूसरों को बताना, उनसे पूछना, चर्चा करना और जानकारी बढ़ाने के लिए वाद-विवाद करना—ये सब ज्ञान का अभ्यास बढ़ाने वाले उपाय हैं । उन उपायों को करके ज्ञानाभ्यासी होना चाहिए ।

**हितमार्ग में यथार्थज्ञान का अमोघ सहयोग –**इस ज्ञानाभ्यास के प्रताप से वस्तुओं का यथार्थज्ञान हो जाता है । यथार्थज्ञान साधारण और असाधारण गुण के माध्यम से हुआ करता है । हम लोक में भी किन्हीं पदार्थों को देखते हैं तो कई बातों में ये पदार्थ एक-से नजर आते हैं और कुछ बातों में ये पदार्थ एक दूसरे से न्यारे नजर आते हैं । जिन बातों में पदार्थ न्यारे नजर आते हैं वे हैं असाधारण गुण और जिन बातों में पदार्थ एक-से नजर आते हैं वे हैं साधारण गुण । जैसे जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सभी द्रव्य किन्हीं बातों में एक-से नजर आ रहे हैं । जैसे सत्त्व, सभी का सत्त्व है, सभी हैं, हैं की अपेक्षा से सभी पदार्थ समान हैं । वे सब अपने ही स्वरूप से तो हैं पर के स्वरूप से नहीं हैं और इसी कारण उन पदार्थों में अर्थक्रिया होती है । यह बात सब पदार्थों में समान है । जीव परिणमता है, निरन्तर परिणमता है तो क्या और शेष द्रव्य नहीं परिणमते हैं । वे भी निरन्तर परिणमते हैं, परिणमन की दृष्टि से सब द्रव्य समान हैं । यहाँ जीव अपने में ही परिणमता है, अपने को ही परिणमाता है दूसरे से असंपृक्त रहता है, दूसरे को नहीं परिणमाता है, क्या यह बात शेष द्रव्यों में नहीं है । सभी पदार्थ अपने-अपने में परिणमते हैं, किसी दूसरे को नहीं परिणमाते हैं । तो ऐसे कितने ही गुण हैं जिनकी दृष्टि से सब एक-समान नजर आते हैं । अब वस्तु में कुछ आगे की बात देखिये । वस्तु में कुछ गुण ऐसे हैं कि जिनसे भेद नजर आता है । जैसे जीव का चैतन्य गुण । लो, इस दृष्टि से सब पदार्थों से न्यारा इस जीव को बता दिया । चैतन्य अन्य पदार्थ में है ही नहीं । तो यों साधारण और असाधारण गुण का परिचय करना—यह एक यथार्थज्ञान है । इसका बहुत विस्तार है ।

**हितसाधक भेदविज्ञान –**यहाँ संक्षेप में इतना ही जानो कि यह पुरुष पहिले जिज्ञासु बनता है, पीछे ज्ञानाभ्यासी होता है औरपीछे यथार्थज्ञाता बनता है । जो जैसा है उसे वैसा समझना, इस यथार्थज्ञान के प्रताप से इसके भेद-विज्ञान प्रकट होते हैं । यों यह भेदविज्ञानी बना, जीव सबसे न्यारा है और यह मैं जीव सबसे और सब जीवों से न्यारा हूँ । कुछ लेना- देना नहीं, कुछ सम्बन्ध नहीं, कुछ पता नहीं, थोड़ी देर का समागम है । किसी जीव को मान लिया कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा कुटुम्बी है, और हैं सब जीव एक समान, यह तो इस जीव का मोह-नींद का सपना है । यह सब कुछ यों न पहिले था, न यह आगे रहेगा, सभी झूठी बातें हैं । मैं सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ । मोही लोग यह कल्पना करके ही दुःखी हो जाते हैं, हाय ! मेरे घर के कोई जीव जुदा न हो जाएँ, कोई मेरा इष्ट गुजर न जाय, मेरी सम्पदा विघट न जाए, कम न हो जाए, क्लेश ही क्लेश कर रहा है । अरे ! जब सम्पदा है, परिजन हैं तब भी यह जीव केवल अपने स्वरूपमात्र हैं और जब सम्पदा, परिजन, इष्ट जन भी न होंगे तब भी यह जीव उतना का ही उतना है जितना कि बहुत बड़ी सम्पदावों के बीच में था । न जरा भी अब कम हुआ और न जरा भी पहिले बढ़ा । यह तो अपने स्वरूपमात्र ही है । यह जीव यथार्थज्ञान के प्रताप से भेद विज्ञानी हो जाता है ।

**ज्ञान और अज्ञान का प्रसाद –**भैया ! भेदविज्ञान ही अमृत है । जितने भी अब तक महान पुरुष हुए हैं अथवा परमात्मा हुए हैं, सिद्ध बने हैं वे सब एक भेदविज्ञान के प्रताप से बने हैं, किन्तु यह मोही जीव

भेदविज्ञान की चर्चा को भी असगुन समझता है । क्या कहा जा रहा है ? मेरी स्त्री नहीं है क्या ? यह मेरा पुत्र नहीं है क्या ? यह कोई कहे जरा कि तुमने जीवन पाया है तो एक दिन जरूर मर जावोगे । ऐसी बात सुनते ही मोही जीव को गाली-सी लगती है । क्या यह सत्य नहीं कहा जा रहा है ? जब हमने जीवन पाया है तो क्या मरेंगे नहीं ? पर कोई कह तो दे कि तुम कभी मर जावोगे। मोही प्राणी को मरने का नाम अखरता है । बात सत्य है मगर मोह में सुना नहीं जाता है । यह धन, सम्पदा विघट जायगी । अरे ! विघटना तो है ही, हमारे जीवनभर भी रहे तो मरकर चले जायेंगे यों विघट जायगी अथवा जीवन में ही विघट जायगा । ये सारी भेदविज्ञान की बातें हैं, पर मोही को असगुन और गाली मालूम पड़ती हैं । पर, जब तक अपने को सर्वपरद्रव्यों से भिन्न निजस्वरूपमात्र नहीं मान लिया जायगा तब तक शान्ति में गति नहीं हो सकती है । यह पुरुष अपने यथार्थज्ञान के बल से भेदविज्ञानी बनता है ।

**तत्त्वज्ञाता –**भेदविज्ञान का फल क्या है ? अभेद जो निज अन्तस्तत्त्व है उसका छककर दर्शन करते रहना । लोक में आनन्द ही केवल एक निजस्वरूप के यथार्थ दर्शन में है । यह वैषयिक सुख, ये जगत की बातें जब चित्त को स्थिर ही नहीं रहने देतीं तो उससे सुख शान्ति की आशा करना तो बिल्कुल व्यर्थ है । एक आत्मा का एकत्व अपने आपके स्वरूप का ज्ञान और उसमें भी जो मेरा सहज स्वरूप है, शाश्वत हूँ, स्वभाव है स्वत:सिद्ध है, उस स्वभाव का पता कर लेना, उस तथ्य का परिचय हो जाना यह तत्त्वज्ञाता बहुत बड़ी निधि है ।

**आनन्द का मानक –**भैया ! धन-सम्पदा के अनुपात से आनन्द का लेखा-जोखा नहीं लगाया जाता है, किन्तु ज्ञान की स्वच्छता के अनुपात से आनन्द का ठीक-ठीक लेखा जोखा लगाया जाता है । कितने ही पुरुष हैं, करोड़ों की सम्पदा है, घर में लड़ाई बनी रहती है, स्त्री और पति का मन नहीं मिलता, पुत्र और पिता का मन नहीं मिलता, रात-दिन दुःखी होते रहते हैं, और एक दूसरे के विरुद्ध नाना षड़यन्त्र रचने की सोचते रहते हैं । धन से सुख कहाँ हुआ ? जो विवेकी पुरुष हैं वे धन से शून्य होकर भी आनन्दमग्न रहते हैं । पुराणों में ऐसी अनेक बातें हैं । श्री राम, सीता सब कुछ छोड़कर वन में रहे, पर कुछ उन्हें कोई क्लेश था क्या ? शान्ति का अनुपात धन-सम्पदा से नहीं लगाया जा सकता है । आनन्द का लेखा-जोखा ज्ञान की कला पर तो लगाया जा सकता है, पर बाह्य वैभव में नहीं । मैं हर समय जाननस्वरूप मात्र हूँ, उतना ही हूँ । न धन-सम्पदा में मैं बढ़ गया था और न सम्पदा के मिटने से मैं कुछ घट गया हूँ । रही इस दुनिया की इज्जत की बात, सो दुनिया में तो पापी, मलिनमोही, अज्ञानी पुरुषों का समूह है । ज्ञानी, सन्त तो बिरले ही हैं । ये अज्ञानी, मोही जो स्वयं अशरण है, जो स्वयं संसार में भटकने वाले हैं, वे स्वार्थवश कुछ प्रशंसा की भी बात बोल दें तो उससे इसे क्या मिल गया ? यथार्थ तत्त्वज्ञानी हो तो शान्ति-लाभ हो सकता है ।

**प्रतिपन्नतत्त्व की परिस्थिति –**यह पुरुष पहिले जिज्ञासु हुआ, पीछे ज्ञानाभ्यासी बना । उसके फल में यथार्थ ज्ञानी हुआ, भेदविज्ञानी बना और अब यह तत्त्वज्ञाता हुआ । अपने आपमें सहज सनातन जो शुद्धचित्स्वभाव है उसका इसे परिचय मिला । अब यथार्थ तत्त्व का ज्ञान पाने के बाद अब यह जीव

निजतत्त्व के ज्ञान को बनाये रहने का अभ्यास कर रहा है । किन्हीं भी पर पदार्थों में यह भरम न जाय, विचलित न हो जाय, यह निज शुद्ध ज्ञानस्वरूप को ही जानता रहे ऐसा प्रयत्न जब किया जा रहा है तो उसे कहते हैं योगाभ्यासी । ज्ञानस्वरूप में अपने उपयोग का योग करना, जोड़ना इसे कहते हैं योगाभ्यास । जिसने प्रथम ही प्रथम इस अन्तस्तत्त्व को जाना, इस आत्मतथ्य को पहिचाना ऐसे पुरुषों को यह दृश्यमान जगत उन्मत्त की तरह प्रतिक्षण विरुद्धचेष्टा नजर आ रहा है । इसका कारण यह है कि इसने अपने आपमें यह पहिचाना है कि परमार्थभूत यह मैं आत्मतत्त्व ज्ञानमात्र निश्चेष्ट हूँ । यह तो मैं भावप्रधान पदार्थ हूँ और ऐसे ही ये सब जीव भावप्रधान पदार्थ हैं किन्तु मोहरागवश ये कैसा यत्न कर रहे हैं यह इनकी उन्मत्त चेष्टा है ।

**मोही की उन्मत्त चेष्टा का दर्शन –**जैसे कोई पागल पुरुष थोड़ी देर में किसी को अपना बता दे, थोड़ी देर में किसी को अपना बता दे ऐसे ही यह मोही पुरुष मनुष्य भव में आया तो किन्हीं को अपना बता दिया और मरकर देवगति में आ गया तो किन्हीं को अपना बता दिया । तिर्यञ्च गति में आया तो किन्हीं को अपना बता दिया । यह भी मोही पागलों की तरह किन्हीं-किन्हीं को अपना बताता फिरता है, और भव परिवर्तन की ही बात नहीं है किन्तु इस एक ही मनुष्य भव में जब तक कषाय से कषाय मिलती रही तब तक अपना-अपना गाता रहा और जब कषाय न मिलते देखी तो उसने अपना न माना, गैर मानने लगा । यों यह मोही कषाय के आवेग से अट्ट-सट्ट अपनी कल्पनाएँ और मान्यताएँ बनाता है, ऐसा ही तो दिख रहा है । अब बाहर में यह जगत उन्मत्त की तरह चेष्टावान नजर आ रहा है इस योगाभ्यासी को ।

**निष्पन्न योग की स्थिति –**अब यह पुरुष जब इस आत्मतत्त्व के ज्ञान में अभ्यस्त हो जाता है, ज्ञानमात्र तत्त्व ही विशद दृढ़ता से अनुभूत होने लगता है इसे, तो बाहर भी यों दिख रहा है कि कौन चल रहा हैयहाँ न चलता होगा जो कोई चलता हो किन्तु ये आत्मा तो सब निश्चेष्ट हैं । अन्य आत्मावों में भी यह निश्चल निष्काम आत्मतत्त्व दिख रहा है, वह तो जैसा है तैसा ही है, यों देखकर उसे तो ये सब काष्ठ पाषाण की तरह निश्चेष्टनजर आते हैं । यों जिसने आत्मतत्त्व को प्रथम ही प्रथम देखा है उसे यह जगत उन्मत्त की तरह लगता है पश्चात् जब यह निज ज्ञानयोग में निष्णात हो जाता है, अभ्यस्त हो जाता है तो जब स्वयं की ही वृत्ति बाह्य अर्थ में नहीं जाती, बाह्य विषयों में नहीं जाती तो उसमें एक उदासीन भाव यहाँ निश्चल, निष्काम, सहज स्वभाव का दर्शन होता है तब यही सर्वत्र दिखता है, प्रकट होता है ।

**उदासीनता का अर्थ व माहात्म्य –**उदासीन का अर्थ है उत् मायने उत्कृष्ट स्थिति और आसीन मायने उसमें बैठ जाना । उदासीन का अर्थ रोती सकल लेकर पड़ जाने का नाम नहीं है, किन्तु अपने आपमें जो उत्कृष्ट पद है, ज्ञातृत्व-दृष्टित्व जो स्वभाव है उस स्वभाव में आसीन हो जाना, बैठ जाना, स्थित हो जाना इसका नाम है उदासीन होना । यह उस निश्चल परम पारणामिक भाव में आसीन हो गया है, इसी कारण अन्य जीवों में भी ऐसा निश्चल देख रहा है तब ये सब काष्ठ पत्थर की तरह निश्चेष्ट जान पड़ते हैं । यह सब भेदविज्ञान का और भेदविज्ञान से पहिचाने निज अन्तस्तत्त्व के उपयोग की स्थिरता के अभ्यास का माहात्म्य है ।

**अन्तस्तत्त्व के ज्ञान की उपादेयता** –भैया ! ये जीव जब तक बाहर ही बाहर अपनी दृष्टि रखेंगे तब तक इन्हें शान्ति न मिलेगी । जब अपने आपमें स्वत:सिद्ध यही तत्त्व दृष्ट होगा तब इन्हें शान्तिपथ मिलेगा । हमारा भी कर्तव्य है कि सर्व प्रयत्नोंपूर्वक अपने आपके यथार्थ स्वरूप का भान बनाये रहें । इस अवसर में पहिले तो अपूर्व स्वरूपदर्शन का अवसर होने से स्वरूप भक्ति में आतुरता व रुचि होगी । इसी कारण शुभ-अशुभ विकल्पों और चेष्टाओं की अत्यन्त असारता विदित होगी । तब यह संकल्प-विकल्पों में उलझा हुआ जगत् उन्मत्त की तरह विरुद्ध नाना विकल्पों से मत्त दिखेगा । पश्चात् जब निष्पन्न योग की अवस्था होगी तब निश्चल आत्मस्वभाव का अनुभव होने से, संसारविषयक चिन्ता का अभाव होने से यह जगत् काठ-पत्थर की तरह निश्चेष्ट विदित होता है । कौन चल रहा है, चैतन्य चलता नहीं, वह तो निश्चेष्ट है । अचेतन स्कन्ध स्वयं चले कैसे ? अहा, इस निश्चेष्टानुभव में सहज आनन्द है । इसकी प्राप्ति के अर्थ चिदानन्द स्वभाव अन्तस्तत्त्व का भान बनाये रहना एकमात्र अपना कर्तव्य है ।

## श्लोक-81

श्रृणवन्नप्यन्यत: कामं वदन्नपि कलेवरात् ।

नात्मानं भावयेद् भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

**मोक्ष और मोक्ष के यत्न का निर्देश** –अशान्ति से छुटकारा पाने का नाम है मोक्ष । मोक्ष शब्द का शब्दार्थ है छुटकारा पाना । संसार में अनन्त कष्ट हैं । जन्म का, मरण का, शारीरिक व्याधियों का और सम्बन्ध के हर्ष-विषाद का, संयोग-वियोग का, यश नाम कीर्ति की चाह का, सम्मान अपमान के आदि अनेक संकट हैं । उन सब संकटों से छुटकारा होने का नाम मोक्ष है । किसी भी चीज से छुटकारा तब होगा जब यह श्रद्धा हो कि इस चीज से मेरा छुटकारा हो सकता है । जिसे छुटकारा होने की श्रद्धा ही नहीं है वह कैसे छूट सकता है । छुटकारा होने की भी श्रद्धा तब हो सकती है जब पर से छूटा हुआ अपना स्वरूप देख लिया जाय । स्वभाव पर से छूटा हुआ है, इसमें अन्य उपद्रवों का प्रवेश ही नहीं है ऐसी श्रद्धा हो तो संकटों से छुटकारा होने की श्रद्धा बन सकती है । संकट ही स्वभाव में बसे हुए हैं ऐसी बुद्धि बनी हो तो संकटों से छूटने की श्रद्धा नहीं हो सकती है और न उपाय बन सकते हैं ।

**मुक्ति के उपायों में भेदविज्ञान की प्रतिष्ठा** –इस ही समस्त उपाय को संक्षिप्त शब्दों में आचार्यों ने बताया है भेदविज्ञान । शरीर से यह मैं चैतन्यस्वरूप भिन्न हूँ । वचनों से भी यह मैं चित्स्वरूप भिन्न हूँ और मानसिक जो संकल्प-विकल्प होते हैं, विचार-तरंगें होती हैं उनसे भी मैं भिन्न हूँ । यों समस्त अनात्मतत्त्वों से आत्मा को पृथक् जानना भेदविज्ञान है । इसी प्रकार सर्व पर पदार्थों से विविक्त निज स्वरूप मात्र आत्मतत्त्व का परिचय होना भेदविज्ञान का फल है । इस तत्त्व को उपाध्यायों से, आचार्यों से, गुरुवों से,

वक्तावों से खूब सुनाभी तो भी सुनने मात्र से शान्तिलाभ नहीं हो सकता है किन्तु अपने आपमें अपनी परिणति में उसे उतारें और अपने में प्रकाश देख सकें तो मुक्ति की पात्रता होती है ।

**तत्त्व का मूल्यांकन** –भैया ! तत्त्व की बात सुनकर उसका मर्म न उतारा तो इसे लोग लोकोक्ति में कहते हैं कि इस कान से सुना और दूसरे कान से निकाल दिया । एक ऐसा ही कथानक चला आता है कि किसी स्वर्णकार ने पीतल की धातु की कोई दो पुतलियाँ बनायीं । उन दोनों पुतलियों की शकल, सूरत, आकार, प्रकार बिल्कुल एक-सा था । कोई भी अन्तर उन दोनों पुतलियों में न दिखता था । वह राजदरबार में उन दोनों पुतलियों को लेकर पहुँचा और बोला –महाराज ! मेरे पास ये दो पुतलियाँ हैं, इनमें से एक की कीमत तो २ रुपया है और एक की कीमत २ लाख रुपया है । लोग सुनकर आश्चर्य में आ गये । सबने देखा कि दोनों एक सी पुतलियाँ हैं, इतना अन्तर कहाँ से आ गया ? बहुत विचार किया, पर परख न सके । तब राजा ने कहा –ऐस्वर्णकार ! तुम्हीं बताओ कि दोनों पुतलियों की कीमत में इतना अन्तर क्यों है ? तब उसने बताया कि इस पुतली की कीमत है २), क्योंकि देखो मैं इसके कान में यह धागा डालता हूँ तो दूसरे कान से निकल जायगा । और इस पुतली की कीमत २ लाख रु. है, इसके कान में धागा डालता हूँ यह धागा पेट के अन्दर पहुँच जायगा । तो एक पुतली यह शिक्षा देती है कि कुछ मनुष्य हित की बातें इस कान से सुनते हैं और दूसरे कान से निकाल देते हैं उन्हें अपने दिल में उतारने का यत्न नहीं करते हैं वे इस संसार में भटकते रहते हैं, और दूसरी पुतली यह शिक्षा देती है कि कुछ मनुष्य हित की बातें सुनते हैं और उन्हें अपने दिल में उतारने का यत्न करते हैं, वे शाश्वत आनन्द की उपलब्धि कर लेते हैं । ऐसे जीवों की ही हम आप पूजा और उपासना करते हैं ।

**जीव पर अज्ञान संकट** –इस जीव पर सबसे महान् संकट है तो अज्ञान का, मिथ्यात्व का । विषय-सुख केवल कल्पनामात्र रम्य है । ये विषय-सुख जीव के हितरूप नहीं हैं । अनेक संकटों से ये विषय-सुख भरे हुए हैं, किन्तु स्वकीय शुद्ध आनन्द का परिचय न होने से इस अज्ञानी जीव के विषयों में, विषयों की साधना में ही रुचि बनी रहती है । और पर पदार्थों में जब तक लगाव रखा तो उनका वियोग होगा ही । इस जीव की कल्पनावों से कहीं वियोग रुक न जाएगा अथवा संयोग हो न जायगा तब यह अज्ञानी जीव दुःखी होता है । जो अपने स्वानुभव से अपना आनन्द स्वाधीन होकर लिया करते हैं उनको कहीं भी विघ्न नहीं है । जिनका पराश्रित भाव है, पर की ओर जिनका लगाव है वे सदा संक्लिष्ट रहा करते हैं, यह सब अज्ञान का प्रसाद है । इस जीव ने हित की बात सुनी तक भी नहीं, परिचय में आना तो उसके बाद की कहानी है और अनुभव में उतर जाना यह तो सर्वोत्कृष्ट विभूति है ।

**व्यामोह के कारण स्वयं में स्वयं का अदर्शन** –यहाँ यह कह रहे हैं कि ऐसे तत्त्व को केवल सुनने मात्र से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है । सुने भी और मुख से खूब बोले भी, सबको सुनाये भी, चर्चा भी करे, ऐसी चर्चा करे कि दूसरे तो अपना हित कर जायें पर स्वयं उतारे नहीं तो इसे शांति नहीं मिली । सुने तो भी और बोले तो भी उससे कार्य सिद्धि नहीं है जब तक कि इस भिन्न आत्मा को भिन्न रूप से स्वयं न भाले, किसको भाना है, किसको लक्ष्य में लेना है ? वह है तो स्वयं, पर विषय-कषायों के परिणामों में

उपयोग जब रँगीला हो जाता है तो स्वयं की ही शकल स्वयं का ही स्वरूप, स्वयं को नहींदिखता है, इस पर ही कितने रंग चढ़े हुए हैं ।

**बाह्यविषयक आन्तरिक रङ्ग** –प्रथम तो बाहर में इस जड़ धन-सम्पदा में जो ममता बनी हुई है यह रंग चढ़ा हुआ है । हैं सब अत्यन्त भिन्न पदार्थ । न जन्मते साथ आयें हैं और न मरने पर साथ जायेंगे और जीवन तक भी रहे आयें पास इसका भी कोई निर्णय नहीं है, फिर यह मान रहा है कि मेरा यह मकान, परिवार, मित्र जन, सब कुछ हैं । इन सबको जो कि अत्यन्त भिन्न है, इसके स्वक्षेत्र में भी अवगाहित नहीं हैं, उन्हें भी मानता है कि ये मेरे हैं । खैर, कभी बाह्य पदार्थों को भी भिन्न कहने की आदत बन जाए तो यह शरीररूप ही अपने को मान लेता है, यह ही तो मैं हूँ । शरीर से भिन्न मैं कोई शाश्वत तत्त्व हूँ इस ओर दृष्टि नहीं लगाता है ।

**आन्तरिक रङ्ग** – कदाचित् शरीर से भी न्यारा कुछ सोचने की उमङ्ग आये तो यहाँ तक उमङ्ग रहती है, यहाँ तक ही उसकी जानकारी रहती है कि यह मैं वह हूँ जो बोलता है, सुनता है, विचारता है, प्रेम करता है, कषाय विषय-सुख भोगने वाला जो कुछ है सो ही मैं हूँ । यहाँ तक उसकी बुद्धि रम जाती है लेकिन क्या मैं ये विचार वितर्क कषाय हूँ, मैं मिट जाने वाला नहीं हूँ, जिस तत्त्व के आधार पर ये राग रङ्गों का स्रोतभूत जो कुछ एक मूल पदार्थ है वह मैं हूँ । मैं रागादिक रूप नहीं हूँ ऐसा ध्यान करना चाहिए । ऐसा भी ध्यान किया और कुछ स्वभाव विकास की ओर भी दृष्टि दी तो यह अटक हो जाती है कि एक शुद्ध जानन देखन है, ज्ञानप्रकाश है वह शुद्ध ज्ञानप्रकाश मैं हूँ । यद्यपि यह स्वभाव के अनुरूप विकास है लेकिन शुद्ध जाननहार तो मैं प्रारम्भ से न रहा आया । जो कभी हुआ पहिले न था वह मैं नहीं हूँ । वह मेरा शुद्ध विकास है, उस विकास के अन्तर में भी जो स्रोतरूप शाश्वत स्वभाव है वह मैं हूँ ।

**प्रवर्तमान स्थिति** –भैया ! परम विविक्त इस अन्तस्तत्त्व की भावना जब तक न भायी जाय यह जीव मुक्ति का पात्र नहीं होता । समझ लीजिए कि हमें शान्तिलाभ लेने के लिए कहाँ उपयोग ले जाना उसके विरूद्ध हम कितना बाहर बाहर में फँसे हुए हैं और तिस पर भी सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि हम बाहरी पदार्थों में उपयोग लगाये रहते हैं और उस ही में अपनी चतुराई समझते हैं, गल्ती-गल्ती रूप से समझ में आये तो भला है, पर गल्ती करके उस ही में अपनी चतुराई मान लेते हैं । तो जो गल्ती को चतुराई माने उसकी गल्ती कभी टूट नहीं सकती है ।

**प्रसंग से हटकर नि:सङ्ग में आना** –भैया, नया किया जाय, जगत में ऐसा ही संग है, ऐसा ही प्रसंग है, यह मोही जीवों से भरा हुआ है, यहाँ जिन्हें देखते हैं वही विषय कषायों में फँसे हुए हैं । उनकी वृत्ति को देखकर खुदमें भी यह भावना जगती है, वासना बनती है कि मैं बनूँ बड़ा, बाह्य पदार्थों का करें संचय, लेकिन लोक में अपना यश लूटें, कीर्ति उत्पन्न करें । लेकिन कीर्ति उत्पन्न करने से उत्पन्न नहीं होती है, बनावट करने से कीर्ति नहीं हुआ करती है और हो भी जाय किसी भी प्रकार तो इस कीर्ति के कारण कीर्तिवान को कुछ लाभ नहीं होता है । लाभ नहीं होता है । लाभ के मायने शान्ति । इस मनुष्य को, इस जीव को अपने सत् आचार के कारण सत् श्रद्धा और ज्ञान के कारण शांति हो सकती है, बाह्य के संचय

पर, बाह्य के उपयोग पर शांति की निर्भरता नहीं है । जैसे-जैसे इसको प्राप्त विषय भी अहितकर लगने लगते हैं, अरुचिकर हो जाते हैं और वैसे ही वैसे इसके अन्तस्तत्त्व में दृढ़ता होती जाती है और जैसे ही जैसे इसके शुद्ध ज्ञानप्रकाश में दृढ़ता होती जाती है तो ये सुगमप्राप्त विषय भी अरुचिकर होते जाते हैं ।

**आत्मा की वृहणशीलता –**प्रत्येक पुरुष की यह चाह रहती है कि मैं ऐसा व्यापार करूँ ऐसा काम करूँ जो मजबूत हो और सदा निभता रहे । थोड़ा लाभ हो, अध्रुव लाभ हो इसके बाद फिर उससे भी गये बीते हो जायें ऐसी बात को कोई पसंद नहीं करता है । प्रकृति है बढ़ते रहने व बढ़े हुए रहने की इसकी । इसका नाम ब्रह्म है जो अपने गुणों से बढ़ने का स्वभाव रखता हो उसे ब्रह्म कहते हैं । तब निर्णय करो कि ऐसा कौन-सा काम है जिस कार्य से हमें ऐसी अटूट, अमिट शांति मिले कि जिसकी सीमा भी नहीं और कभी अंत भी नहीं । पराधीन सुख इस शांति को उत्पन्न नहीं कर सकता है । वह तो पराधीन है, माना हुआ है । यह मान्यता ही स्वयं अस्थिर है और जिसका आश्रय पाकर यह सुख होता है वह भी अस्थिर है और ये भोगने वाले परिणमन भी अस्थिर हैं । हम आप इस दुनिया से निवृत्त होकर एक अलौकिक एकत्वस्वरूप अपने आपमें पहुँचे, यह मैं अकेला अपने आपसे ही बात-चीत करके संतुष्ट रह सकूँ, ऐसी स्थिति बन सके तो शांति की पात्रता है ।

**एकान्त में अज्ञानी की ऊब और ज्ञानी की वृत्ति –**अज्ञान में तो लोग अकेले रहने में भी घबराहट मानते हैं, चित्त नहीं लगता है, अकेले हैं, किससे बात करें, बिना बात चैन नहीं मिलती है । कोई न भी हो तो भी अपने पास पड़ोस को अपने आपके नजदीक के बनाने का यत्न करते हैं, दिल तो लगा रहे, समय तो कटे पर ऐसा समय कटने में कोई सुविधा का मौलिक अन्तर नहीं आता है क्योंकि वे सब पराधीन बातें हैं । जिसके ज्ञानानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्व का निर्णय है और उसमें ही संतोष माना है । वे कभी ऊबते नहीं हैं कि हम अकेले रह गये तो अब किससे बातें करें । जब अज्ञान अवस्था आती है तब ही ऊब उत्पन्न होती है कि अब क्या करें । जब राग का तो उदय आये और राग का विषयभूत कोई न मिले तो बैचेनी उत्पन्न होती है । यह विकार का एक स्वभाव है पर जो अन्तरज्ञानी पुरुष है, अपने यथार्थ स्वरूप का दर्शी है उसे अकेले में ही आनन्द बरषता है, अपने से ही बात करता है, अपने को ही देखता रहता है, और जहाँ अपने को देखने-जानने से च्युत हुआ तो उसकी गिनती संसारी प्राणियों में, बर्हिमुख जीवों में हो गयी । अब तो उसे वैसा ही रंग चाहिए जिस रंग में संसारी जन अपने को सुखी मान सकें । इस अन्तस्तत्त्व की तब तक भावना भायें जब तक यह ज्ञायकस्वरूप निज ज्ञानस्वरूप में ही प्रतिष्ठित न हो जाये जिसे कहते हैं ठीक फिट बैठ जाना ।

**कार्य की प्रयोगसाध्यता –**भैया, शान्ति का हम करें यत्न, विफल न होने पर हम पुनः यत्न न करें तो कैसे हम शांति के स्रोत को पा सकते हैं । एक बालक था, दूसरों को तालाब में तैरते देख आया था ना, सो माँ से बोला माँ री माँ, मुझे भी तैरना सिखा दे । हाँ बेटा तैरना सिखा दूंगी । फिर बोलता है बच्चा, माँ तैरना तो सिखा दे पर पानी को छूने से मुझे डर लगता है, पानी न छूना पड़े और तैरना आ जाय । तो माँ कहती है बेटा यह तो कभी नहीं हो सकता है । भैया, भले ही किताब में पढ़कर तैरने की सब विधियाँ

याद कर ले, अब तो हर एक चीज की किताब बन गयी हैं, ऐसे औंधे पानी में पड़ जावो, दोनों हाथों से पानी को इस तरह समेटते हुए चलावो। पानी को अपनी ओर समेटते हुएसे पैर फटकना चाहिए । खूब सिखा दीजिए और अगर ६ महीने का कोर्स हो तो उसको खूब पढ़ा दिया । पढ़ गये बच्चे। अब कहें कि ६ माह बाद तुम्हारी परीक्षा होगी । तालाब के पास चलो-वन-टू-थ्री कहकर पानी में पटक दें तो वे बच्चे तालाब में डूब जायेंगे ।

**अन्त:सिद्धि की अन्त:प्रयोगसाध्यता** –केवल अक्षरी विद्या से काम नहीं चलता है, जिस कार्य की सिद्धि करना है उसका प्रयोग करो । जैसे रोटी बनाना है, रोज-रोज देखते हैं ऐसे आटा गूँथा, लोई गोल की, बेलने पर बेला, ऐसे रोटी बनायी, ऐसा बीसों वर्षों से देखते चले आ रहे हैं, और किसी दिन आपसे कह दिया जाय कि बनाओ रोटी, अगर आपने कभी रोटी न बनाई होगी तो आप बना नहीं सकते हैं । वह तो प्रयोगसाध्य बात है, गप्पों से काम नहीं चलता । ऐसे ही आत्मा के अनुभव की बात प्रयोगसाध्य है, वचनों से नहीं जानी जाती है,उपदेशों से ही नहीं प्राप्त होती है उसे तो एकांत में बैठकर गुप्त ही, किसी से जताना नहीं है, अपने आप में ही अन्तर्भावना करके ज्ञानमात्र निजस्वरूप की भावना भाता रहे तो इसे वह अंतस्तत्व परिचय में आ जायगा । यदि अन्तर में यत्न न करें, भीतर में वैसा न घटायें, सुन लिया कि सर्व से न्यारा यह मैं चेतन हूँ, पर जब तक उस चेतन को ऐसा निरखने का उद्यम न करें, हूँ तो मैं ज्ञानमात्र और ये सर्व जड़ हैं आदि जो कुछ सुन रक्खा है उस रूप अपने आपमें अपने को न घटाया, तो आत्मानुभव की चीज नहीं प्राप्त हो सकती है ।

**आत्मोपयोग प्रयोग बिना आत्मोपलब्धि का अभाव** –दूसरे को देखते रहें कि यह ऐसे ही अंग्रेजी लिखता है, इस तरह की हिन्दी लिखता है । बीसों वर्षों तक ऐसे ही देखते रहें तो उस तरह वह अंग्रेजी का पाठ लिखना प्रयोग किये बिना आ तो नहीं जायगा । यह लिखना तो प्रयोगसाध्य बात है । उसे स्वयं प्रयोग में लाये, सीखे तो आ सकती है, ऐसे ही यह जीव विषय-सुखों से निवृत्त होकर अपने आपमें निर्दोष रहने की विधि बनाये तो इसे अपने ज्ञानानन्द का निधान यह आत्मप्रभु दिख सकता है परन्तु प्रयोग न करे, ऐसा चित्त में न धारे तो उसे दर्शन नहीं होते । इसी बात को इस प्रसंङ्ग में पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं कि सुन भी लिया, बोल भी लिया किन्तु उस प्रकार उस विविक्त ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र अपने आपकी भावना न बनाएँ, वैसा ही अपने आपमें एकाग्रचित्त होकर न निरखें तो उस आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती है । जीव और पुद्गल के स्वरूप को सुनकर तोते की तरह रट लेने से या दूसरे को सुना देने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है । तोते को खूब तो रटाते हैं, चाहे जो कुछ सिखा दो, चाहे णमोकार मंत्र सिखा दो, उसे भी तोते रट लेंगे, पर यह सीख लेने से तोते के हृदय में तो नहीं उतरता है ।

**मात्र तोतारटन्त से भाव की असिद्धिपर एक दृष्टान्त** –किसी जगह हलवाई के घर में पिंजड़े में एक तोता रहता था । उसे हलवाई ने सिखा रक्खा था –"इसमें क्या शक"। एक बार कोई विद्वान् ब्राह्मण आया, तोते का रूप, रङ्ग अच्छा था, उसने हलवाई से पूछा कि यह तोता बेचोगे ? बोला हाँ बेचेंगे । कितने में दोगे ? १०० रु. में ! अरे, १०० रु. की इसमें कौन सी बात है ? आठ-आठ आने के तो बाजार में बिकते

हैं ! हलवाई ने कहा कि इस तोते से ही पूछ लो कि तुम्हारी १००) कीमत है क्या ? तो ब्राह्मण पूछता है –ऐ तोते ! क्या तुम्हारी १००) कीमत है ? तो तोता बोला "इसमें क्या शक" । उसने तो ठीक वही बोल दिया उसने जो सीखा था । ब्राह्मण ने समझा कि यह तो बड़ा समझदार तोता मालूम होता है, उसने उसे खरीद लिया दो चार दिन बाद ब्राह्मण रामायण लेकर उसे सुनाने बैठ गया, और कहा बोलो तोते राम राम ! तो तोते ने क्या कहा ? इसमें क्या शक । ब्राह्मण ने सोचा कि यह तोता इससे भी बड़ी कोई बात जानता है, तो वह रामचरित सुनाने लगा । तोता बोला इसमें क्या शक । फिर वह ब्राह्मण आत्मा का स्वरूप कहने लगा । सो तोता बोला इसमें क्या शक । फिर ब्राह्मण आत्मब्रह्म का परमार्थस्वरूप बताने लगा तो तोता बोला इसमें क्या शक । अब तो ब्राह्मण को भी शक हो गया कि यह कुछ जानता नहीं है । सो पूछता है – तो क्या तोते मेरे १०० रु. पानी में चले गये ? तो तोता बोला इसमें क्या शक । तो उस तोते को केवल एक ही बात याद थी, हृदय में कुछ उसके उतरा नहीं ।

**सदामुक्त की आराधना से मुक्ति –**इसी तरह जब तक अन्तर में यह अन्तस्तत्त्व नहीं उतरता है तो सुनकर भी ऐसा लगता है कि यह सुनने की और कहने की बात है । इसकी सुनने से और कहने से लोक-प्रतिष्ठा बढ़ती है, इतनी ही सीमा रहती है । भैया ! कितना ही सुनो, कितना ही बोलो, जब तक अन्तर में इस भिन्न आत्मतत्त्व की भावना न भायें तब तक परमार्थभूत शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है । अत: तत्त्व को सुनने और चर्चित करने से आगे यथार्थ भावनारूप प्रयत्न करना चाहिये । सदामुक्त सहजसिद्ध ज्ञायकस्वरूप की उपासना से ज्ञायकस्वरूप के विलास का विस्तार होता है उसी में सर्वथा मुक्ति प्राप्त होती है । यह अन्तस्तत्त्व सदा परस्वरूप से मुक्त है इस कारण यह सदामुक्त है । यह चित्स्वभाव सदा शिवस्वरूप है, कल्याणमय है इस कारण यह सदाशिव है । यह चितत्व परमचिद्विलासस्वरूप कार्यसमयसार का परमार्थ कारण है इस कारण यह कारण समयसार है । इस चैतन्य महाप्रभु की अविचल उपयोगरूप की गई अभेद उपासना मुक्ति का समर्थ कारण है ।

## श्लोक-82

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मात्मानमात्मनि ।

यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२॥

**अभीक्ष्ण ज्ञानभावना का निर्देश –**मोक्षार्थी भव्य पुरुष का कर्तव्य है कि वह देह से आत्मा को भिन्न अनुभव करके आत्मा में ही आत्मरूप से भावना करे । किसी भी प्रकार से फिर स्वप्न में भी शरीर में आत्मा को न लगाये । एकबार यथार्थ परिचय करने से शरीर का और आत्मा का भिन्न-भिन्न परिज्ञान हो गया । अब भविष्य में यह बात भूल कर कहीं फिर देह में आत्मतत्त्व को न मानने लगे, इसके लिए और मोक्षमार्ग अबाध चलता रहे इसके लिए आत्मा में आत्मा को आत्मारूप से निरखते रहने की वृत्ति बनाये रहना

चाहिए ।

**स्वप्न दुर्भाव में भी दोष का अस्तित्व** – यदि कोई स्वप्न में भी यह ख्याल कर ले कि मैं यह हूँ, अपने शरीर को ध्यान में लेकर उसके प्रति यह मैं हूँ ऐसी स्वप्न में भी कल्पना उठ जाय तो इसे भी दोष कहा गया है, क्योंकि स्वप्न में भी जो मिथ्यात्वरूप कल्पना हुई है, उसका कारण यह है कि पहले जगी हुई हालत में भी संस्कार रहे आये हैं तब तो स्वप्न में मिथ्याबुद्धि हुई । स्वप्न खोटा आ जाय, खोटा आचरण करने का स्वप्न आ जाय उसका भी प्रायश्चित लेना पड़ता है । वहाँ यह नहीं सोचा जाता है कि वह तो स्वप्न की बात थी । उसमें बुरा काम कहाँ किया । मैं तो सो रहा हूँ, स्वप्न में ऐसा दृश्य देखा जाता है । स्वप्न में भी मन चला खोटे काम के लिए तो आखिर वह इस प्रकार के संस्कारों की सूचना ही तो देता है । स्वप्न में भी दुराचार के भाव आयें तो वह भी दोष है और उसका प्रायश्चित लिया जाता है ।

**स्वप्न से संस्कार की सूचना** –यहाँ पूज्यपाद आचार्य कह रहे हैं कि शरीर से आत्मा को जुदा कर दिया है, भिन्न अनुभव कर लिया है, फिर भी देह से भिन्न ज्ञानमात्र निज अन्तस्तत्त्व का ध्यान बनाये रहना चाहिए ताकि भविष्य में कभी स्वप्न में भी शरीर में आत्मा की बुद्धि न हो, इस शरीर को ही आत्मा न जानता रहे । इसी बात की दृढ़ता प्रकट होने के लिए कहा करते हैं कि यह बात तो स्वप्न में भी नहीं हो सकती है । कोई कहे कि तुम हमारा विरोध करना चाहते थे क्या ? तुम हमारा कुछ काट करना चाहते थे क्या ? तो वह उत्तर देता है कि तुम्हारे विरोध की बात तो मुझसे स्वप्न में भी नहीं हो सकती । उससे हृदय की सूचना हुई । जिसको स्वप्न कुछ भले काम के आते हैं, तीर्थ यात्रा करने जा रहे हैं, भगवान के दर्शन कर रहे हैं, पूजा कर रहे हैं, किसी को आहार दे रहे हैं ऐसे किसी प्रकार के धर्म सम्बन्धी स्वप्न आयें तो समझो कि उसकी भावना पवित्र है, तब स्वप्न में ऐसी बात जगी है ।

**स्वप्न भावना का अनुवर्तन** –कोई कहे कि रात्रि को सो रहे हैं, स्वप्न आ रहा है और किसी साधु को आहार दे रहे हैं तो यह तो दोष की बात होगी । अरे, उस स्वप्न वाले को रात कहाँ पता है ? जिसको स्वप्न आ रहा हो उसे क्या यह भान है कि यह रात है ? उसको तो खूब तेज धूप दिख रही है । बड़ा दिन चढ़ा है, गरमी है, यह सब उसकी दृष्टि में है । यदि यह सोचकर आहार स्वप्न में दे कि हम रात्रि के समय आहार दें तो वह अशुभ भाव है । उसे कहाँ इसका पता है । तो जब शुभ स्वप्न आता है धार्मिकता से भरा हुआ तो जानना चाहिए कि मेरा हृदय धार्मिकता से भरा हुआ है, इसीलिए यह स्वप्न आया । कभी बुरा भला स्वप्न आया, अन्य प्रकार के खोटे आचरण दगा, छल, मायाचार, किसी को सताना, ऐसे स्वप्न आया करें तो उसका अर्थ यह है कि इसका हृदय अपवित्र है ।

**प्रकृति का विशिष्ट अनुमान** –जैसे किसी मनुष्य के दिल का, दिमाग का परिचय लेना हो तो वह जहाँ अपना बहुत-सा समय व्यतीत करता हो, कोई ऐसी उसके आराम की जगह हो जहाँ वह बहुत काल बैठता हो उस स्थान पर जाय और वहाँ क्या चीज रक्खी हैं उन चीजों को देखकर उसकी प्रकृति का अन्दाज कर सकते हैं कि उसका हृदय कैसा है । वहाँ अच्छा साहित्य रक्खा हो, धर्म की किताबें, शास्त्र आदि रक्खे हों तो ऐसा निर्णय करना चाहिए कि यह व्यक्ति धर्मसंयुक्त रहता है । यदि गंदे उपन्यास रक्खे

हों, आधुनिक उपन्यास या पुरातन उपन्यास आदि रखे हों तो मूल में समझो कि यह व्यक्ति धार्मिकता से कुछ गिरी हुई आदत का है । जैसे किसी के रहने, उठने-बैठने के स्थान पर रक्खी हुई चीजों से प्रकृति का अंदाज हो जाता है कि जैसा वह देखे उसके अनुकूल इसका भाव है यह सिद्ध हो जाता है । जो पुरुष इस ज्ञायकस्वरूप निजआत्मतत्त्व की बहुत-बहुत काल भावना बनाये रहते हैं उनको उसके विरुद्ध मिथ्या परिणामस्वरूप स्वप्न कभी नहीं आते हैं ।

**सम्यक्त्व के रक्षण की सावधानी** –जीव एकबार सम्यक्त्व पैदा करके फिर सम्यक्त्व को नष्ट कर देता है तो अधिक से अधिक कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल तक वह संसार में भ्रमण कर सकता है । इस कारण सम्यक्त्व प्राप्त होने पर स्वच्छन्द नहीं होना चाहिए । इतनी गल्ती से, इतनी स्वच्छन्दता से यदि पाये हुए अमूल्य रत्न का, सम्यक्त्व का विघात हो जाय तो फिर रङ्क सरीखी फिर स्थिति आ जायगी । इसी कारण जो आत्मतत्त्व दिखा है, जिसका परिज्ञान हुआ है अब उस आत्मतत्त्व के उपयोग में हमें निरन्तर रहना चाहिए । बारबार भावना करना इस जीव की आदत में शुमार है । कोई खोटा परिणाम हो, खोटी आदत हो तो खोटी ही भावना रात-दिन बसाये रहता है और उसमें ही कल्याण समझता है । उत्तम परिणमन हो तो उसके योग्य उत्तम भावना बनाये रहता है ।

**दिखावटी भावना से आत्महित की असिद्धि** –भैया ! दिखावटी भावना से काम सफल नहीं होता है । वह एक विडम्बना का रूप रखता है । न उससे स्वयं को लाभ है और न दूसरों को लाभ है । बात जितनी हो, वह सीधी सच्ची हो । हम भीतर में बुरे हैं तो बाहर में भले जँचने का प्रयत्न न करें । ऐसा कपट करना धोखा रहेगा । अपनी गल्ती छिपाकर लोगों की दृष्टि में धर्मात्मा बनकर रहने का परिणाम भला नहीं निकलता है । अपनी कमी, अपनी त्रुटि अपने को दिखने में आती रहे तो कभी उसका सुधार कर सकते हैं पर बनावटी ऊँची मुद्रा दिखाना उत्तम नहीं है ।

**बनावटी बात से प्रयोजन केनिभाव के अभाव का एक दृष्टान्त** –एक कहानी है कि एक पुरुष ससुराल जा रहा था । उसको रात में न दिखता था । रात में न दिखने को कहते हैं रतौंध । सायं के समय ससुराल के गाँव के निकट पहुँचा तो रतौंध आ गयी । उसे थोड़ा-थोड़ा दिखे । सोचा, अब क्या करें । यहाँ पड़े रहना तो ठीक नहीं है रात में तकलीफ होगी पर दिखेगा नहीं तो जायेंगे कहाँ, सो वह बछड़ा चर रहा था जो बछड़ा दहेज में दिया था । सो झट समझ में आया कि पूँछ पकड़ले तो यह बछड़ा घर पहुँचा देगा । फिर सोचा कि लोग बेवकूफ कहेंगे कि इस तरह ये लाला जी आये हैं । तब एक युक्ति समझ में आ गयी । एक रटन लगाली मुझे तो बछड़े का अफसोस है । वह बछड़ा कुछ दुबला हो गया होगा । खैर किसी तरह से बछड़े की पूँछ पकड़कर ससुराल के घर पहुँच गया । लोग पूछते हैं कि लालाजी कब आये ? उत्तर में बस वही एक बात वह कहता है मुझे तो बछड़े का अफसोस । इस बात को वह छिपाना चाहता था कि रात को मुझे दिखता नहीं है । केवल इतनी बात छिपाने के लिए वह यही बात कहे कि मुझे बछड़े का अफसोस । अरे ! तो हाथ-पैर धोओ, कुल्ला करो । मुझे तो बछड़े का अफसोस । कोई कुछ कहे उसकी एक रटन । वे रात के खाने वाले होंगे, भोजन तैयार हो गया, सो कहा चलो लालाजी

भोजन करने चलो । अब लालाजी उठें कैसे जब दिखता हो तब तो उठें । तो उसको पकड़कर जबरदस्ती खाने ले गए और कहा अरे ! बछड़े को खूब खिलायेंगे, फिर मोटा हो जायगा मुझे तो बछड़े का अफसोस । वह तो चाहता ही था कि कोई हाथ पकड़कर ले जाये तो भोजन कर लूँ ।

**बनावटी बात से अन्त में भारी विडम्बना –**अब रतौंधिया लालाजी पहुँच गये रसोई घर में । सास ने चीजें परोस दी और सोचा कि दाल में खूब गरम घी डालना चाहिए और इतना गरम घी डाला जाय कि दाल में छुन-छुन की आवाज हो; तभी दाल बिढ़या लगती है । सो बहुत तेज गरम घी दाल में डाला—छुन छुन की आवाज हुयी सो लालाजी ने समझा कि कोई बिलैया आकर थाली में खाने लगी है सो एक थप्पड़ मारा । घी की कटोरी दूर जाकर गिरी । ऐब छिपाने के लिए कहता जाय कि मुझे तो बछड़े का अफसोस है । उसे थोड़ी देर बाद बड़ी सरम लगी कि खूब ऐब छिपाया पर खुलने ही वाला है । सो सरम के मारे घर से निकल गया और बाहर जाकर एक गड्ढे में गिर गया । दिखता तो था नहीं । अब बड़े सुबह सास पहुंची कपड़े धोने उसी नाले के घाट पर, वह कपड़े धोने लगी, वहाँ सास ने देखा कि यहाँ तो लालाजी पड़े हुए हैं, बोली कि तुम यहाँ कैसे पड़े हो – रात को यहाँ-वहाँ ढूंढते फिरे सब लोग कि लालाजी कहा गये । उसे सास ने उठाया तो वह बोला मुझे तो बछड़े का अफसोस । अरे ! बनावटी बात कहा तक छिपती । आखिर में उसे कहना ही पड़ा कि मुझे रात को दिखता नहीं है इसलिए दोष बचाने के लिए कहता रहा कि मुझे बछड़े का अफसोस ।

**आत्मदर्शन के हित में भलाई –** भैया ! परवाह किस बात की करें । हम बुरे हैं तो बाहर में बुरा दिखने दें, दोष ढांकने की कोशिश न करें, जैसी बात मन में हो वैसी ही वचन और कार्य की प्रवृत्ति होनी चाहिए । उससे अपनी भावना सरल होती है और कभी अवसर पाकर धर्म की ओर झुकाव भी हो जाता है । अच्छे विचार हैं, अच्छे परिणाम हैं इसकी पहिचान यह है कि कभी खोटा स्वप्न न आये । स्वप्न में भी शरीर में यह मैं आत्मा हूँ ऐसा ख्याल न जाय । इतनी तैयारी के लिए अन्तरात्मा को चाहिए कि वह शरीर से आत्मा को अत्यन्त जुदा अनुभव करके फिर आत्मा में ऐसा ही दर्शन किया करे, ऐसा ही उपयोग बनाया करे कि यह आत्मतत्त्व मेरे उपयोग में दृढ़ हो जाय तब चिरकाल से भरा हुआ अज्ञान-संस्कार आत्मा से निकल जाता है मोह दूर हो जाता है फिर इस जीव की कभी स्वप्न में भी शरीर में आत्मा की बुद्धि नहीं होती है । ऐसे संस्कार को दूर करने के लिए भेदविज्ञान की निरन्तर भावना करनी चाहिये । अच्छिन्न धाराप्रवाह, न टूटे ज्ञानधारा । ऐसी रीति से सर्व पर पदार्थों से विविक्त, परभावों से पृथक्, ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र निज आत्मतत्त्व की भावना के प्रसाद से, ज्ञानमय उपयोग से यह आनन्द का भाजन होगा ।

**निज में पर का सदा अभाव –** भैया ! यह कैसा ही उपयोग करे अन्य कोई इसका कुछ बन नहीं जाता है, यह तो उपयोग मात्र ही रहता है । लाखों करोड़ों की जायदाद में अपनी बुद्धि लगाये फिरे तो ऐसा भी उपयोग देने से एक पैसा भी कभी अपना नहीं हो सकता है तो यह अन्य क्षेत्रस्थ लोक-वैभव तो अपना कैसे हो । अपना तो कुछ होता नहीं, केवल एक भावना करके अपने को कलुषित कर लेना, पापिष्ट बना

लेना और उस पाप प्राप्ति के फल में आकुलता को भोगना—यह विडम्बना मुफ्त खड़ी हो जाती है । यह जीव परपदार्थों को अपना माने तो वे अपने नहीं होते, न अपने मानें तो अपने नहीं होते फिर क्यों यह मोही प्राणी अपनी बरबादी के लिए पर पदार्थों को अपना मानता चला आ रहा है । जिसे मिथ्याबुद्धि उत्पन्न हुई है वे अपनी त्रुटि को त्रुटि नहीं समझ सकते हैं । वे तो उस गल्ती को अपनी चतुराई समझते हैं ।

**अभीक्ष्ण ज्ञानभावना की आवश्यकता** – अहो, इस मिथ्यात्व परिणाम को किए हुए इस जीव को कितना समय गुजर गया ? अनन्तकाल ! जिस काल का कोई अंत ही नहीं है । इतने काल का भरा हुआ अज्ञान-संस्कार मूल से मिट जाय ऐसा निर्दोष होने के लिए हमको साधारण यत्न नहीं करना होगा, निरन्तर इस सदामुक्त सहजशुद्ध आत्मतत्त्व की भावना बनानी पड़ेगी तब आत्मकल्याण हो सकेगा । इस शिवमय आनन्द स्थिति के लिए हमें चाहिए कि देह से भिन्न इस आत्मतत्त्व की निरन्तर भावना करें । अनन्तकाल का बना हुआ अज्ञान-संस्कार निरन्तर ज्ञानभावना का पुरुषार्थ किए बिना समाप्त नहीं हो सकता है । अपने को यह प्रतीति तो दृढ़ करना है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान स्वभाव के अतिरिक्त अन्यरूप मैं नहीं हूँ, अथवा अन्य का भी ख्याल न करना निषेधमुख से भी, किन्तु केवल जैसा स्वत:सिद्ध यह मैं हूँ वैसी निरन्तर भावना करना है इस भावना के प्रसाद से सहज परम आनन्द प्रकट होता है ।

## श्लोक-83

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तदव्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

**पुण्यपाप में अकुलत्व की स्थिति व पुण्यपाप के अभाव में मुक्ति** – हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ प्रकार के पापों के परिणाम से पाप का बंध होता है, और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग इन ५ प्रकार के व्रत के भावों से पुण्य का बंध होता है, किन्तु मोक्ष नाम है पुण्य और पाप दोनों के विनष्ट होने का । इस कारण मोक्ष का अभिलाषी भव्य आत्मा पाप की तरह, अव्रत की तरह व्रतों को भी छोड़ देते हैं । एक पद में कहा है – " पाप-पुण्य मिल दोय पायन बेड़ी डारी, तन काराग्रह माँहि मोह दियो दु:ख भारी" । पाप और पुण्य ये दो बेड़ियाँ हैं । जैसे इस जीव को पाप का उदय परतंत्र कर देता है इसी प्रकार पुण्य का उदय भी जीव को परतंत्र कर सकता है । पाप के उदय में प्रतिकूल घटनाएं आती हैं जिनसे वह दु:खी रहता है । किन्तु पुण्य के उदय में मन के अनुकूल घटनाएँ आती हैं जिनसे यह जीव राग किया करता है । वहाँ यह रागी अन्तरङ्ग में बड़ी पीड़ा का अनुभव करता है ।

**राग का विशेष बन्धन** – भैया ! बन्धन तो राग का विकट है । बन्धन असल में राग का ही है । द्वेष में तो अलगाव रहता है सुहाता नहीं है, आकर्षण नहीं रहता है, विमुख होना चाहता है किन्तु राग में आकर्षण होता है उसकी और लगना चाहता है । तो बंधन तो विकट राग का ही है । ये पाप और पुण्य

दोनों बेड़ियाँ हैं और यह शरीर कारागार है । जेलखाने का सींकचा है । जैसे सींकचे में बंद पड़ा हुआ कैदी परतंत्र रहता है इसी तरह शरीर के सींकचे में बंद पड़ा हुआ यह जीव परतंत्र रहता है । कहा तो इस जीव की स्वतंत्र सत्ता सच्चिदानंदस्वरूप है और कहा यह शरीर का विकट बन्धन ! यह सब पाप और पुण्य के कारण शरीर का काराग्रह लगा हुआ है । जैसे कैदी को चाहे स्वर्ण की बेड़ी डाल दी जाय, चाहे लोहे की बेड़ी डाल दी जाय, परतंत्रता के कारण तो दोनों ही प्रकार की बेड़ियाँ हैं । इसी प्रकार इस जीव के समीप पुण्य के ठाठ रहें अथवा पाप के उदय की स्थितियाँ रहें, बन्धन और आकुलता दोनों में समान है । पाप के उदय वाले निर्धनता से, दरिद्रता से दुःखी रहते हैं और पुण्य के उदय में ये अज्ञानी जीव तृष्णा से और सम्पदा से अपने को बड़प्पन मानने की वासना से मलिन रहते हैं, संक्लिष्ट रहते हैं । ये दोनों ही इस जीव को संसार के कारण हैं ।

**मोक्षार्थी की वृत्ति –** मोक्ष अव्रत और व्रत दोनों के अभाव से होता है, इस ही कारण मोक्ष का अभिलाषी पुरुष जैसे पाप का परित्याग करता है तो पाप का परित्याग करके व्रतों को ग्रहण करता तो है पर उसके लक्ष्य में पाप-पुण्य रहित, अव्रत व्रत रहित एक शान्त निष्कषाय स्थिति रहती है । इस कारण ज्ञानी पुरुष को, मोक्षार्थी भव्य जीव को अव्रतों के त्याग की तरह व्रतों का भी परित्याग करना चाहिए ।

**कर्ममात्र के सम्पर्क की हेयता –** तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यग्दृष्टि पुरुष करता है, मिथ्यादृष्टि तो कर नहीं सकता । और, लोग जानते हैं कि तीर्थंकर प्रकृति के उदय में तीर्थंकर बनता है, भगवान सर्वज्ञ बनता है, सभी तीनों लोक के सभी विशिष्ट जीव इन्द्र आदि आकर चरणों में नमस्कार करते हैं, बड़ा अभ्युदय होता है किन्तु तीर्थंकर प्रकृति के स्थिति बन्ध वाली पद्धति एक रहस्य प्रकट कर रही है कि तीर्थंकर प्रकृति का अधिक स्थिति में बन्ध संक्लेश परिणामों में होता है और तीर्थंकर प्रकृति की थोड़ी स्थिति का बन्ध विशुद्ध परिणामों में होता है । सम्यग्दृष्टि के योग्य जितना अधिक से अधिक संक्लेश परिणाम हो सकता है उस परिणाम में कदाचित् तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया जा रहा हो तो उत्कृष्ट स्थिति का बंध पड़ेगा और विशुद्ध परिणाम में कम स्थिति की तीर्थंकर प्रकृति बंधेगी । सुनने में थोड़ा अटपटा सा लग रहा होगा कि तीर्थंकर जैसी पुण्य-प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति संक्लेश परिणाम वाला ही बाँध सकता है यह क्या बात है ? इसका मर्म यह है कि तीर्थंकर प्रकृति भी पुण्य-प्रकृति है, ठीक है, किन्तु कर्ममात्र का बहुत दिनों तक जीव के साथ बना रहना भली बात है क्या ? तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति है । किन्तु उसकी उत्कृष्ट स्थिति बांधने का अर्थ यह है कि यह जीव कर्मों से लिप्त बहुत काल तक रहेगा क्योंकि स्थिति अधिक बंधी है ना, तो अधिक काल तक संसार में बना रहे ऐसा उपाय संक्लेश परिणाम में होगा या विशुद्ध परिणाम में होगा ?

**पुण्य और पाप प्रकृतियों की विघ्नरूपता –** भैया ! पुण्य प्रकृति भी इस जीव के हित में विघ्नस्वरूप है, पाप प्रकृति भी विघ्नस्वरूप है । जैसे कारागार में लोहे की बेड़ी और सोने की बेड़ी दोनों एक समान हैं, दोनों ही प्रकार की बेड़ियों का अभाव हो तो आजादी समझी जाती है । इसी प्रकार पुण्य पाप दोनों कर्मों का अभाव हो, अव्रत और व्रत दोनों शुभ अशुभ भावों का अभाव हो तो मुक्ति हो सकती है । वह मोक्ष

मार्ग का परिणाम व्रत और तपस्या से भी उत्कृष्ट परिणाम है । शारीरिक तपस्या और समय का पालन इसे भी उत्कृष्ट भाव है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के अभेदरूप का अनुभव । मोक्षार्थी पुरुष इस ही शुद्धतत्त्व को लक्ष्य में ले रहा है । करना उसे यद्यपि यह पड़ रहा है कि पहिले पापों को छोड़कर पुण्य की बातों का ग्रहण करे । लेकिन वह पुण्य का ग्रहण करके भी पुण्य के छोड़ने के यत्न में रहता है । यों यह जीव पाप, पुण्य दोनों से विविक्त और पुण्य के कारणभूत शुभ अशुभ भावों से विविक्त अंतस्तत्त्व की आराधना करता है और इसके फल में सुख-दुःख दोनों से रहित जो सहज आनन्द है उस आनन्द को भोगा करता है ।

**आत्मशिक्षण** – भैया ! इस श्लोक में यह शिक्षा भरी हुई है कि पुण्य के फल की वाञ्छा न करो और पुण्य-फल की इच्छा से किसी प्रकार का धर्म कार्य न करो । किन्तु, एक शुद्ध सहज आनन्द की पूर्ति के लिए अथवा ज्ञाता-दृष्टा इसका स्वभाव है, अंत: सत्य–सत्य बात की जानकारी के लिए जाननहार रहो । धन,सम्पदा, वैभव इनकी तृष्णा में शाँति नहीं है । और अब तो आज के जमाने में धनिक वर्ग कहाँ सुखी है । कितनी चिंताएँ सिरपर लदी हुई हैं, वे सब धन के संचय के हठ का परिणाम है । मनुष्य जीवन मिला है तो धन जोड़ने के लिए नहीं किन्तु सत्य धर्म का दर्शन करके ऐसा फल प्राप्त कर लें कि जो अन्यत्र कहीं न मिल सके इसके लिए मनुष्य जीवन है । और आज का समय देखा जाय तो यह समय धर्म के साधन के लिए भी बहुत प्रेरणा करता है लेकिन व्यामोह ऐसा पड़ा है कि चाहे कितना ही कष्ट हो, कितने ही अत्याचार करने पड़े, ब्लेकमार्केट करना पड़े अथवा अन्य प्रकार के कितने ही अन्याय करने पड़े, पर किसी प्रकार से धन-सम्पदा अधिक बढ़ जाय, यह तृष्णा रहती है ।

**राग से सर्वदा अलाभ** – अरे भैया ! धन-सम्पदा बढ़ाकर क्या किया जायगा ? अब तो सरकार को दिया जायगा, यह समय आने वाला है । जब एक नियम बन जाएगा शहरी सम्पदा का कि कोई मनुष्य इतने से अधिक सम्पदा नहीं रख सकता है तो उससे अधिक का और क्या किया जायगा ? श्रम किया, विकल्प किया, सारी बातें की, उसका कष्ट ही आपके पास होगा । अथवा रहा भी आये धन पास में तो भी उससे क्या हित है ? चोर सतायेंगे, कुटुम्बीजन, रिश्तेदार, पड़ोस के लोग सभी भागी बनेंगे । चैन कहाँ है । अथवा जोड़ते भी जायें तो रागभाव ही तो किया जायगा । राग एक अंधकार है । जहाँ रागभाव बढ़ रहा है वहाँ यह आत्मब्रह्म नहीं सूझता है । जहाँ यह आत्मप्रभु नहीं दिख सकता है वहाँ तो सारी विपत्ति है । यह जगत् एक अंधेर नगरी है । तनिक-सी देर में कुछ से कुछ क्या हो जाय यह कोई निश्चय नहीं कर सकता है । जैसे जमाने में कहीं निरपराध आदमी बड़ी तकलीफ पाये सरकार के चंगुल में फँसकर और कहीं अपराधी पुरुष मौज उड़ाये, कुछ भी नहीं कहा जा सकता है । अब तो यह दुनिया स्पष्ट दिखती है कि अंधेर नगरी है ।

**अंधेर नगरी का मौज** – एक कथानक है कि एक गुरु और शिष्य एक अंधेर नगरी में पहुंचे । शिष्य को भेजा कुछ पैसा देकर कि जावो कुछ अच्छी सामाग्री ले आवो, शिष्य गया । पहिले तो कोयले की जरूरत थी, पूछा कोयला क्या भाव दिया ? कोयला वाला बोला—टके सेर । आटे वाले के यहाँ पहुँचा,

पूछा क्या भाव है आटा ? वह भी बोला टके सेर । हलवाई के यहाँ पहुँचा पूछा, ये रसगुल्ले क्या भाव ? वह भी बोला टके सेर । खूब ले आया रसगुल्ले और भर पेट खाया । फिर शिष्य गुरु से कहता है कि महाराज यहाँ ६ महीने तक ठहर जावो तो खूब तगड़े हो जायेंगे, यहाँ हर एक चीज टके सेर है । गुरु ने कहा यहाँ मत ठहरो, यह स्थान ठहरने लायक नहीं है । शिष्य बोला—महाराज एक बार तो कहना मान ही लो, ठहर गये, चार-पाँच माह में शिष्य तो खूब मोटा हो गया ।

**अंधेरनगरी का फैसला** – अब इसके बाद एक घटना क्या घटती है कि एक बाबू साहब सड़क के एक दूसरे किनारे से जा रहे थे तो १८ फुट दूर सड़क के दूसरे किनारे के एक बनिये के मकान से दो ईंटें खिसक गयी । तो बाबू साहब ने उस घर के मालिक पर न्यायालय में राज्य के पास मुकदमा दायर कर दिया कि उसने ऐसी भींत क्यों बनवाई कि ईंट गिर गयी । मैं यदि इस घर के किनारे से होकर जाता तो ईंट मेरे लगती कि न लगती ? राजा ने सोचा यह ठीक कह रहा है । राजा ने बनिये को बुलाया, पूछा अबे बनिये ! तूने ऐसी कमजोर दीवाल क्यों बनवायी कि उससे ईंट इन बाबूजी के लग जाती तो ? वह बनिया बोला—महाराज ! इसमें मेरा क्या दोष है । इसमें तो मिट्टी गीली करने वाले का कसूर है । उसने पानी ज्यादा डाल दिया । मिट्टी गीली हो गयी, इसी से ईंट खिसक गयी । गिलाव करने वाले को बुलाकर पूछा-तूने मिट्टी में पानी क्यों ज्यादा डाल दिया कि मिट्टी गीली हो गई और दीवाल से ईंट खिसक गई । वह बोला—महाराज ! मेरा क्या कसूर । इसमें तो मसक बनाने वाले का कसूर है, उसने ऐसी बड़ी मसक क्यों बनायी कि पानी ज्यादा गिर गया । मसक बनाने वाले को बुला कर पूछा तो उसने कहा महाराज ! मेरा क्या कसूर, इसमें तो पशु बेचने वाले का सारा कसूर है, वह इतना बड़ा पशु बेचने क्यों आया ? उसे बुलाया क्यों बे तू बड़ा पशु बेचने क्यों लाया यहाँ उसके पास कोई उत्तर नही था । तो राजा ने फैसला दिया कि इस पशु बेचने वाले को फाँसी दी जाय । इस सबकी जड़ यही है ।

**अंधेरनगरी की विडम्बना** – फाँसी के तख्ते पर उसे खड़ा कर दिया । तो वह दुबला-पतला आदमी था व फाँसी का फंदा बड़ा था । उसके गले में वह फंदा फिट न बैठे । तो फाँसी देने वाले चांडाल लोग राजा से बोलते हैं कि महाराज ! इसका तो गला इतना पतला है कि फाँसी के फंदे में नहीं आता है । तो राजा कहता है अबे तो किसी मोटे गले वाले को पकड़ लावो । फाँसी का मुहूर्त निकला जा रहा है । चांडाल लोग दौड़े मोटे गले वाले की खोज में । सो मोटे गले वाले वही शिष्य महाराज मिले जिसने ५ महीने तक खूब टका सेर की पकवान मिठाई की चीजें खायी थीं उसको पकड़कर ले जाने लगे तो वह शिष्य पूछता है कि बात क्या है जो पकड़े लिए जाते हो । वे चांडाल लोग बोले – अबे ! बात क्या है, फाँसी देना है, मुहूर्त निकला जा रहा है । तो शिष्य ने कहा—अच्छा, पहिले गुरुजी के पैर तो छू आवें । हाँ, छू आवो । गुरुजी से कहा महाराज ! अब तो हम मरे सारी बात बतायी । गुरु ने बताया कि बचने का एक उपाय है कि फाँसी पर चढ़ने के लिए हम तुम दोनों लड़ें कि पहिले हम चढ़ेंगे । ठीक है । जब यह शिष्य फाँसी पर चढ़ाया जाने लगा यो गुरु उससे झगड़ने लगा पहिले हम चढ़ेंगें फाँसी पर । जब झगड़ासा होता देखा तो राजा ने कहा—साधु महाराज ! तुम क्यों लड़ते हो ? तो वह साधु कहता है—हे

राजन् ! तुम चुप बैठो । तुम्हें कुछ पता भी है, यह ऐसा मुहूर्त है कि जो इस समय फाँसी के तख्ते पर चढ़ेगा वह सीधा बैकुण्ठ जायगा । तो राजा बोला कि अच्छा तुम दोनों न चढ़ो, पहिले हमें चढ़ावो । फिर क्या हुआ हम नहीं जानते ।

**अंधेर दुनिया से बचने का यत्न** -—जैसे अंधेर नगरी का कोई हिसाब-किताब ही नहीं । अपराधी-निरपराधी सब एक समान हैं ऐसे ही इस दुनिया में सब एक समान दुःखी हैं । पुण्य वाला हो तो, पाप वाला हो तो । शान्ति का उपाय तो सम्यग्ज्ञान है । सही-सही शुद्ध जैसा वस्तु का अपना स्वरूप है उस स्वरूप की पहिचान हो तो शान्ति हो सकती है अन्यथा शान्ति है ही नहीं । सोचते रहो हमारे इतने घर है, इतने लड़के हैं, इतनी बहुएँ हैं, इतनी बेटियाँ हैं, सोचते रहो और भीतर में आग जल रही है उसमें जल रहे हैं । संतोष और शान्ति शुद्ध ज्ञान के बिना कभी हो ही नहीं सकती । मोक्षार्थी पुरुष जैसे अव्रत-परिणामों का त्याग करता है इसी प्रकार व्रत-परिणामों का भी त्याग करता है हाँ इतनी कला अवश्य है कि पहिले पाप को छोड़ेगा, पीछे पुण्य को भी छोड़ेगा । नहीं तो यह बड़ी सरल बात लगती है कि पुण्य को पहिले छोड़ दे, पाप न छूटे न सही, पर यह विधि नहीं है । प्रथम तो पापों का परित्याग हो, पश्चात् पुण्य का परित्याग हो ।

**ज्ञानी और अज्ञानी के समय का उपयोग** – सुख-दुःख दोनों से रहित, पुण्य-पाप दोनों से रहित केवल ज्ञानस्वरूप के अनुभवरूप शुद्ध आनन्द का अनुभव ज्ञानी पुरुष ही कर सकता है, अज्ञानी तो मोह के नींद की स्वप्नों में बसा हुआ अमूल्य जीवन गुजार रहा है । जैसे सिर का खुजैला और अन्धा किसी नगर में प्रवेश करना चाहे, जिस नगर में मान लो एक ही दरवाजा हो और पूरा कोट घिरा हुआ हो । वह कोट छूकर चल रहा है यह सोचकर कि जहाँ दरवाजा मिलेगा वहाँ से नगर में प्रवेश कर जायगा किन्तु जब दरवाजा आता है तो कोट को छोड़कर सिर खुजलाने लगता है, पैर का चलना जारी रखता है, दरवाजा निकल गया । अब कोट पर हाथ धरकर फिर चला ऐसे ही संसार में भ्रमण करते-करते आज यह मनुष्यभव का द्वार मिला है जिससे हम आत्मनगरी में पहुँच सकते हैं, पर यह विषयों का खुजैला इस मनुष्यभव में विषयों की खाज खुजाने लगता है । यों इस जीवन को भी व्यर्थ गवाँ देता है । ज्ञानी पुरुष पापों का तो प्रथम ही परित्याग करता है किन्तु व्रत-परिणाम का भी त्याग करके शुद्ध ज्ञानस्वरूप का अनुभव करता है ।

## श्लोक- 84

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।

त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥

**अव्रत व व्रतभाव के परित्याग की आवश्यकता का कारण व क्रम –** पूर्व श्लोक में यह कहा गया था कि अव्रतभाव से पाप होता है और व्रतभाव से पुण्य होता है, किन्तु मोक्ष अव्रत और व्रत दोनों प्रकार के परिणामों के अभाव से होता है । इस कारण मोक्षाभिलाषी पुरुष को अव्रत भाव और व्रत भाव दोनों का परित्याग करना चाहिए । इस विषय में यहाँ यह स्पष्ट कर रहे हैं कि पाप और पुण्य दोनों को अटपट न छोड़ा जायगा, किसी सिलसिले से छोड़ा जायगा । अव्रतभाव और व्रतभाव इन दोनों को कहीं क्रम भंग से न छोड़ा जायगा उसका क्रम हैं और वह क्रम यही है कि अव्रत का परित्याग करके प्रथम तो व्रतभाव से निष्ठावान, रहे; व्रत भाव का भली प्रकार से पालनहार बने, फिर आत्मा के उत्कृष्ट स्थान को पाकर उन व्रत-परिणामों का भी परित्याग कर देवें ।

**अव्रत और व्रत भाव के परित्याग के क्रम का विवरण –** सबसे पहिले तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापों रूप अशुभ प्रवृत्तियों को छोड़ना चाहिए, फिर अहिंसा आदिक व्रतों के करने रूप शुभ प्रवृत्तियों को भली प्रकार करके, दक्ष होकर अपना लक्ष्य शुद्धोपयोग की ओर रखना चाहिए । जब शुद्धोपयोग की प्रबलता हो जाय, विकल्पों का अभाव हो जाय, विषय कषायों का लेश न रहे ऐसे उत्कृष्ट पद की प्राप्ति हो जाय तब इन व्रतों को भी छोड़ देना चाहिए ।

**व्रत में भलाई –** व्रत धारण करने के लिए कोई बाट न जोहना चाहिए । जैसे कि यह सोचो कि मेरे को सम्यक्त्व हो जाय तब फिर मैं व्रत धारण करूँगा । ५ पापों को छोड़ने में तो पद माफिक सदा ही भला है, जिसे सम्यग्दर्शन नहीं हुआ ऐसे पुरुष भी व्रतों को धारण करें तो क्या उसका व्रत धारण करना पाप-वासना से भी अधिक बुरा है । पाप के परिणामों का त्याग करना और व्रत के परिणाम में आना यह तो अव्रत की अपेक्षा लाभकर है ही । हाँ, रही मोक्षमार्ग की बात । मोक्षमार्ग में भी व्रत के परिणाम की ओर आकर्षित होने से सहयोग ही मिलता है । मोक्षमार्ग तब तक प्रकट नहीं होता जब तक जिस स्वरूप से मुक्त होना है और मुक्त होने की स्थिति जैसी कहलाती है उन दोनों तत्त्वों से परिचित न हो जायें । व्रत धारण करना अच्छा है किन्तु यहाँ मोक्षमार्ग की बात कही जा रही है कि व्रत ही धारण करते रहना इस ज्ञानी का लक्ष्य नहीं है किन्तु अव्रत और व्रत दोनों परिणामों से रहित सहज शान्त निजविलास में ही रहने का उसका लक्ष्य है ।

**असंयम से संयम में पहुँच –** संयम मार्गणा के ८ भेद कहे गए हैं । उनमें सबसे पहिले असंयम होता है । असंयम-भाव मिथ्यात्व अवस्था में भी होता है, सम्यक्त्व छूटकर मिथ्यात्व की ओर आना ऐसी सासादन अवस्था में भी होता है, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों के मिश्रणरूप तृतीय गुणस्थान में भी है और सम्यक्त्व हो जाने पर भी जब तक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है तब तक यह असंयम होता है इस असंयम का परित्याग करके यह जीव संयमासंयम में पहुँचता है जहाँ कुछ संयम है कुछ असंयम है । त्रस जीवों का घात न करने रूप तो संयम है और स्थावर जीवों का घात न छोड़ सकनेरूप असंयम है । इसके ऊपर सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होते हैं ।

**परिहारविशुद्धि की विशिष्ट संयमरूपता –** परिहारविशुद्धि तो एक विशेष बात है, किसी मुनि के हो ।

किसी के न हो यह जरूरी नहीं है कि परिहारविशुद्धि संयम ६ठें और ७वें गुणस्थान में नियम से हो । जिसके परिहारविशुद्धिनामक ऋद्धि सिद्ध हुई हो उसके परिहारविशुद्धि चारित्र होता है । परिहारविशुद्धि चारित्र उपशमसम्यक्त्व में नहीं होता, परिहारविशुद्धि चारित्र स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के भावों में नहीं होता । यह परिहारविशुद्धि भी एक महान् ऋद्धि है । इस ऋद्धि वाले के मन:पयर्यज्ञान की ऋद्धि नहीं होती है क्योंकि यह स्वयं में एक बड़ी ऋद्धि है । इसी प्रकार परिहारविशुद्धि ऋद्धि की सिद्धिवाले के आहारक शरीर की भी ऋद्धि नहीं होती । यह परिहारविशुद्धि किसी-किसी मुनि के होती है ।

**सामायिक व छेदोपस्थापना की स्थिति** – सर्वसाधारण मार्ग में ऊँची अवस्था में यह सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होता है, इसमें क्षणक्षण के बाद सामायिक और छेदोपस्थापना बदलती रहती है । सामायिक नाम है राग-द्वेष न करके समता-परिणाम बनाये रहने का । जब साधु उस समता परिणाम से जरा भी चिगता है तो फिर अपना उद्योग, अपना यत्न समता परिणाम बनाने का करता है । यही हुई छेदोपस्थापना । ये दोनों क्षण क्षण में चलते रहते हैं, अपनी अपनी पदवी की सीमा में ।

**यथाख्यात संयम में संयम की परिसमाप्ति** – सामयिक व छेदोपस्थापना संयम का भी अभाव होता है जब सूक्ष्म चारित्र प्रकट होता है । जहाँ केवल संज्वलन सूक्ष्म लोभ ही रह गया है और उस लोभ के भी परिहार करने के लिए चारित्र हो रहा है उसे सूक्ष्म-साम्पराय चारित्र कहते हैं । यहाँ तक सकषाय जीव है, यहाँ तक व्रत का धारण कहा गया है, यद्यपि ६ठे गुणस्थान से लेकर १०वें गुणस्थान तक बीच में इन व्रतों की तरंगों का भी हीनाधिक भाव होता रहता है । जैसे कि ऊपर के गुणस्थान में यह जीव चलता है तो व्रत सम्बंधी विकल्प उससे कम होते हैं, लेकिन सर्वथा विकल्पों का मिटना यथाख्यात चारित्र में होता है, यहाँ व्रतभाव का परित्याग हो गया । यों यह जीव असंयम का परिहार करके क्रमश: संयमासंयम, सामायिक, छेदोपस्थापना और सूक्ष्म-साम्पराय चारित्र के पश्चात् यथाख्यात् चारित्र में पहुँचता है ।

**संयमवृत्ति से उत्कृष्ट स्थिति** – इसके पश्चात् जब संसार-अवस्था नहीं रहती है, सिद्धत्व प्रकट हो जाता है तो इन सातों के सातों का अभाव हो जाता है, उस समय संयम, असंयम और संयमासंयम इन तीनों से रहित स्थिति होती है । इस प्रकार के क्रम से यह जीव अव्रत का परित्याग करके व्रतों में परिनिष्ठित होकर फिर व्रतों का भी परित्याग करे, ऐसी शिक्षा इस श्लोक में कही गयी है । जब तक वीतराग अवस्था प्रकट न हो, संकल्प-विकल्प का अभाव न हो तब तक व्रतों का अवलम्बन तो रखना चाहिए जिससे अशुभ की ओर प्रवृत्ति न हो सकें पर व्रतों का ग्रहण करके भी इससे उत्कृष्ट स्थिति का लक्ष्य और यत्न बनाये रहना चाहिए । यह क्रम है अव्रतभाव, व्रतभाव और अनुभयभाव के आश्रय के होने का ।

**व्रतधारण में बहाने की अकरणीयता** – कोई जीव स्वच्छन्द होकर सम्यक्त्व की चर्चा की आड़ लेकर कहा करे कि अभी सम्यक्त्व पैदा करना है, जब सम्यक्त्व हो जायगा तब व्रत को ग्रहण करने की बात की जायगी, तो ऐसी चर्चा करते-करते जीवन गुजर जाता है । उनसे पूछो कि अभी सम्यक्त्व हुआ या नहीं, सम्यक्त्व हुआ होता तो व्रत ग्रहण करने की उत्सुकता होती और यदि सम्यक्त्व नहीं तो मिथ्यात्व में ही यह संसार लम्बा किये जा रहा है ।

**व्रत और अव्रतभावों में वर्तमान अन्तर** – जैसे दो पुरुष किसी गांव के लिये चले और उन दोनों पुरुषों से किसी और साथी का वायदा हो कि हम भी यहाँ से साथ चलेंगे । किसी स्थान पर उन दोनों में से एक पुरुष तो पेड़ के नीचे बैठकर छाया में रहकर अपने साथी की बाट जोह रहा है और दूसरा पुरुष संताप भरी गर्मी में, धूप में बैठकर अपने साथी की बाट जोह रहा हो सो बतावो कि उन दोनों पुरुषों में कौन सा पुरुष विवेकी है ? बाट जोहने का काम वे दोनों कर रहे हैं पर एक पुरुष छाया में बैठा हुआ बाट जोह रहा है और एक पुरुष संताप भरी धूप में खड़ा होकर बाट जोह रहा है, जैसे उन दोनों में अन्तर है इसी प्रकार अव्रती और व्रती के भावों में अन्तर है । व्रती पुण्य की छाया में रहकर असीम आनन्द के पथ में लगने की बाट जोह रहा है और अज्ञानी जीव मोह के संताप में रहकर अपने कल्पित सुख-साधनों की बाट जोह रहा है । अच्छा तो व्रतभाव में रहने वाला है । हमें चाहिए कि अपनी शक्ति को न छिपाकर अव्रतभावों का परित्याग करके व्रतभावों में लगें ।

**शुभ-अशुभ-भाव के परिहार में क्रम के विस्मरण का अनौचित्य** – भैया ! तीसरी जो अवस्था है, जहाँ अव्रत और व्रत दोनों ही भाव नहीं हैं । वह तीसरी अवस्था अव्रतभाव के बाद प्रकट नहीं होती, वह व्रतभाव के बाद प्रकट होती है । दोनों हेय हैं, ऐसा सुनकर मन चलित नहीं करना है कि जब दोनों हेय है तो फिर पुण्य भी हेय है, इस पुण्य को क्यों किया जाय ? इन व्रतों को क्यों किया जाय ? अरे ! जब अव्रत नहीं छूट रहा है, पाप नहीं छूट रहा है ऐसी स्थिति में पुण्य के छोड़ने को भला मान ले तो उसकी क्या गति होगी ? पहिले अव्रतभावों का परित्याग करें और फिर व्रतभावों को ग्रहण करें, व्रतों में वह दक्ष हो जाय, निष्ठित हो जाय फिर शुद्धोपयोग का आलम्बन लेकर इन बातों का भी त्याग कर दें । जहाँ व्रतों की ओर उत्साह नहीं है वहाँ उन्नति की आशा करना व्यर्थ है ।

**रात्रिभोजन-परिहार का साधारण नियम** – भैया ! कुछ थोड़े बहुत नियम तो होने ही चाहियें । छोटे से छोटे नियम की बात कही जा रही है । रात्रि को भोजन करना हिंसा से भरा हुआ प्रवर्तन है । मक्खी, मच्छर, पतिंगे आदि अनेक जीव भोजन में आ जाते हैं । छिपकली आदि विष भरे जानवर पड़ जाते हैं । कितने ही लोग तो इससे मरण भी कर जाते हैं । और फिर दिन में भी खायें, रात्रि में भी खायें तो कुछ धर्मचिन्तन के लिये समय भी अलग रहता है क्या ? भोजन करते रहने की वासना हो तो भी धर्म का प्रवेश नहीं होता है । इसीलिए जिन भावों में यह पद्धति चली आयी है कि सुबह भोजन कर लिया तो उसके बाद ६ घंटे के लिये, ८ घंटे के लिये जैसा समय देखते हैं, बल देखते हैं, आहार का त्याग कर देते हैं । मन में त्याग की बात न समायी हो तो उस त्यागने से क्या लाभ ? कौन चलाता रहता है दिनभर अपना मुँह, लेकिन वासना बसी है तो उसके पाप लगता ही है । सामने से कोई चाटवाला निकल पड़े तो दिल हो ही जाता है; जगह न हो पेट में तो भी थोड़ी बहुत गुञ्जाइश तो निकाल ही लेता है, निरन्तर आहार की वासना बनी रहे तो उसमें धर्म का प्रवेश नहीं होता । रात्रि का खाना तो कितनी ही दृष्टियों से हानिकारक है । इस समय में कम से कम इतनी तो हरएक कोई निभा सकता है कि पानी और औषधि के सिवाय कोई चीज ग्रहण नहीं करना । बताओ, इसमें कौन सी मुसीबत है ? बीमार हो

गए तो औषधि रखी हुई है, प्यास लगे तो पानी रखा हुआ है । और, भी कुछ नियम जैसे बाजार की बनी हुई पूड़ी, साग, पराठे, आदि न खाना । नियम चलने और न चलने की बात तो अपने मन के ढिलाव और दृढ़ता पर निर्भर है ।

**व्रतपालन की आवश्यकता और उत्कर्ष विधि –** तो असंयम भाव का परित्याग किसी प्रकार करना ही चाहिए । त्यागव्रत निष्फल कभी नहीं जाता । सम्यक्त्व रहित अवस्था में भी व्रत हो तो वह भी यथायोग्य सद्गति का कारण होता है । सम्यक्त्व-सहित व्रत हो तो वह सद्गति के साथ-साथ मोक्षमार्ग का और कर्म-निर्जरा का भी यथापद कार्य कर जाता है । अव्रतों का परित्याग करके व्रतों का पालन करना आवश्यक है और व्रतों में दक्षता पाकर परम पद को पाते हुए व्रतों का भी त्याग करना चाहिए । यह है उत्कृष्ट पाने की विधि ।

## श्लोक-85

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालआत्मन: ।

मूलं दु:खस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥

**परमपद की प्राप्ति के उपाय के प्रसंग में –** पूर्व श्लोक में यह कहा था कि मोक्षार्थी पुरुष को सबसे पहिले अव्रतों का त्याग करना चाहिये और व्रतों को ग्रहण करके उसमें निपुण होना चाहिए । पश्चात् परम पद को प्राप्त करके व्रतों को भी छोड़ देना चाहिए । परम पद की प्राप्ति होने पर व्रत भी छूट जाया करते हैं । जैसे कोई कहे कि ऊपर जाने के लिए निचले स्थान को छोड़ना चाहिए और सीढ़ियों को ग्रहण करना चाहिए और ऊपरी मंजिल पर पहुँचकर सीढ़ियों को भी छोड़ देना चाहिए । तो सीढ़ियों को क्या छोड़ना चाहिए ? ऊपर पहुँचने पर सीढ़ियाँ तो अपने आप छूट ही गयीं । ऐसे ही जब वीतराग निर्विकल्प आत्मस्थिति होती है तो वहाँ व्रतों का परित्याग हो ही जाता है । जिस परमपद की प्राप्ति होने पर व्रतों का भी त्याग होता है, वह परमपद किस प्रकार प्राप्त होता है इस ही विषय में अब इस श्लोक में मूल तथ्य कहा जा रहा है जिस उपाय के बिना शान्ति सम्भव ही नहीं है ।

**क्लेशों का मूल कल्पना-जाल –** अंतरंग में वचनालाप के लिए हुए जो अनेक प्रकार की कल्पनाओं का समूह है वही तो आत्मा के दु:खों का मूल है । उसका नाश होने पर अर्थात् कल्पनाजाल के दूर होने पर यह इष्ट परम पद स्वयमेव प्राप्त होता है । जीव को क्लेश केवल कल्पना का है । बाह्य पदार्थ कहीं कैसे ही परिणमें, कोई कुछ कहा करे, अपने में कल्पना दु:ख के योग्य न हो तो दु:ख नहीं हो सकता है । कोई पुरुष गाली दे रहा है और कुछ ऐसे शब्दों से दे रहा है कि अर्थ यह लगाया जा सकता है कि मुझे कह रहा है तो लो, इतनी कल्पना होते ही दु:ख हो गया । एक शास्त्रसभा की बात है – कोई पंडित जी शास्त्र पढ़ रहे थे, शास्त्र समाप्त हो गया तो शास्त्र समाप्ति के बाद कोई भजन भी बोला जाता है तो एक

श्रोता ने भजन बोला जिसकी टेक थी – देखे हैं बहुतेरे पंडित...... आदि। कुछ ऐसा ही था कि ऊपर से वैराग्य की बातें बोलते हैं और भीतर में कषायों की छुरी चलती है । वह भजन ही था । उस श्रोता ने पंडितजी को लक्ष्य करके भजन नहीं बोला था, अब पंडितजी दुःखी हो रहे हैं । शास्त्रसभा ज्यों ही समाप्त हुई, शास्त्र विराजमान कर दिया गया, लोग जाने लगे तो पंडितजी ने उसे पकड़ कर तीन-चार तमाचे लगाये कि मैं ही मिला था तुम्हें यह भजन बोलने के लिए ।

**कल्पना की बाहर उद्भूति –** भैया ! दशलाक्षणी के दिनों में हरी नहीं खाया करते हैं, बच्चे भी नहीं खाते हैं, ऐसा रिवाज बुन्देलखण्ड में अब भी है । कोई बालक छोटे भी हों तो दशलाक्षणी के दिनों में हरी नहीं खाते हैं । किसी की इच्छा हो तो चोरी से खा लेते हैं । अब बच्चे ही तो ठहरे । जहाँ दश-पाँच बच्चे बैठे हैं तो उनमें एक दो ऐसे भी निकलते हैं जो छुपकरके हरी खा लेते हैं । बैठे हों और अचानक ही कह दे कोई ऐसा कुछ व्यापक इशारा करके कि उन सभी बच्चों में हर बच्चा यही समझे मेरी ओर इशारा करके कह रहा है, कह दे कोई कि देखो मुंह में क्या बीजसा लगा है, तो जिस बच्चे ने कुछ ककड़ी आदि कोई भी हरी खायी होगी वह झट देखने लगेगा कि कहाँ लगा है । लो पता पड़ गया । अरे ! कहने वाले ने कहा उससे क्लेश नहीं हुआ किन्तु भीतर में जो अपनी कल्पना बनायी उससे क्लेश हुआ । अभी किसी बच्चे ने कुछ चुराया हो और सब बच्चे बैठे हों और कोई कहे कि देखो बच्चों ! सही-सही बतलाओ किसने चोरी की, बता दोगे तो माफ कर दिया जायगा । अच्छा, नहीं बतलाते तो देखो अभी हम मंत्र पढ़ते हैं और मंत्र पढ़ने के बाद ज्यों ही मंत्र पूरा पढ़ा जायगा और हमारा हाथ ऊँचे को उठेगा त्यों ही चोरी करने वाले की चोटी खड़ी हो जायगी । जहाँ वह झूठ-मूठ का मंत्र पढ़कर अपना हाथ उठायगा कि तहाँ ही चोरी करने वाला बालक अपनी चोटी को देखने की कोशिश करेगा, कहीं खड़ी तो नहीं हो गयी है चोटी । तो भीतर में कल्पना पैदा होती है इससे ये सारी विडम्बनाएँ बनती हैं ।

**व्यर्थ का दुःख –** भैया ! वस्तुत: सोचो, दुःख किसको है बतावो ? और दुःख सबको है । दुःख नाम की बात नहीं है, पर हैं सभी दुःखी । ऐसा नहीं हुआ, यों हो गया । घर में धन बहुत था, थोड़ा निकल गया तो क्या हो गया तुम्हारा ? अथवा संयोग—वियोग तो दुनिया में लगे ही रहते हैं । कोई इष्ट का वियोग हो गया तो यह तो संसार की पद्धति है, तुम्हारा क्या हो गया ? तुम तो देह से भी न्यारे केवल अपने स्वरूपमात्र हो । तुम्हारे स्वरूप में से कौन-सी बात की कमी हो गयी ? क्यों कल्पना बना रहे हो व्यर्थ की कल्पनाएँ तो देखो, इस मोही, मलिन, पापी जीवलोक में मनुष्य-समूहों में कैसी यह अपनी इच्छा रखता है कि मैं इनमें कुछ बड़ा कहलाऊँ । अरे ! जिनमें बड़ा कहलाना चाहते हो ये कोई न रहेंगे कुछ वर्षों बाद, अथवा किसी ने बड़प्पन का वचन कह भी दिया कुछ तो उन्होंने अपने स्वार्थवश ही कहा है । किसी का कोई जीव कुछ लगता नहीं है । सबको अपने-अपने प्रयोजन की पड़ी है, कषाय-वेदना की शान्ति की पड़ी है, ऐसी सब जीव चेष्टाएँ करते हैं । यह जीव व्यर्थ ही अपनी कल्पनाएँ बढ़ाकर क्लेश भोग रहा है । परमपद कैसे मिले ? व्यर्थ की बात, गंदी बात, नीची बात, स्वरूपविरूद्ध बात तो यह जीव कर रहा है और परमपद के स्वप्न देखना चाहे तो यह कैसे हो सकता है ।

**दृष्टिकला की जिम्मेदारी –** भैया ! दो तरह के सुख हैं – एक शुद्धचित्त चमत्कारमात्र आत्मतत्त्व के अवलम्बन से उत्पन्न स्वकीय आत्मीय सुख और एक मोहियों में होनेवाला कल्पित विषयों का सुख । अब देखिए दृष्टि द्वारा दोनों ही सुख मिल सकते हैं, चाहे आत्मीय सुख पा लो और चाहे वैषयिक सुख पा लो, दोनों में ही प्रताप अपनी दृष्टि का है । करना और कुछ नहीं है, केवल भीतर का भाव ही बनाना है । शुद्ध स्वरूप की दृष्टि का भाव बने तो आत्मीय आनन्द मिलेगा और बर्हिमुख दृष्टि करके विषयों से बड़ा बड़प्पन है, सुख है ऐसे भाव बनाएँ तो वहाँ कल्पित मौज है । उस वैषयिक सुख के समय भी विह्वलता है, उससे पहिले भी विह्वलता है भोगने के बाद भी विह्वलता रहती है । परन्तु, आत्मीय आनन्द पाने से पहिले भी समता और शांति रहती, आत्मीय आनन्द भोगने के समय भी समता और शांति रहती, और आत्मीय आनन्द अनुभव करने के बाद भी शांति और संतोष रहता । ये दोनों ही बातें केवल दृष्टि से मिल जाया करती हैं, अब किस ओर दृष्टि करना चाहिए यह हम और आपका निर्णय जैसा हो वैसा है, पर सुविधा सब है ।

**दृष्टिकला की जिम्मेदारी का एक दृष्टान्त –** जैसे किसी पुरुष के आगे एक ओर तो खल का टुकड़ा रख दिया जाय और एक ओर रत्न रख दिया जाय फिर उस से कहें कि देखो भाई ! तू जो मांगेगा, जो चाहेगा वही मिल जायगा । अब वह अगर खली का टुकड़ा चाहे तो उसे कोई विवेकी कहेगा ? इसी प्रकार जब केवल दृष्टि-भर देने से आत्मीय आनन्द मिल सकता है और वैषयिक सुख भी मिल सकता है जो कि दुःखस्वरूप है, तो अब यह दृष्टि करे उन वैषयिक सुखों कि तो इसे विवेक तो नहीं कहा जा सकता है । दृष्टि करे तो उस आनन्दनिधि निर्विकल्प आत्मस्वरूप की जिसके प्रताप से शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है ।

**जीव की विमूढ़ दशा –** यहाँ तो जीव की ऐसी दशा है कि दुःखी होता जाता है जिसके कारण, उसी से राग करता जाता । यह हालत है मोह में कि जिसके कारण दर दरपर क्लेश भोगना पड़ता है उसी को ही यह मोही अपनाता जाता है, राग करता जाता है जैसे घर के बूढ़े बाबा को छोटे-छोटे नाती-पोते पीटते जाते हैं, सिर पर भी चढ़ते जाते हैं, वह दुःखी भी हो जाता है फिर भी उन पोतों से राग ही करता जाता है । जैसे जिस मिर्च के खाने से सी-सी करते जाते हैं, आँसू भी गिरते जाते हैं, कौर भी मुश्किल से गुटका जाता है, फिर भी लाल मिर्च और चाहिए और चाहिए मांगते जाते हैं । ऐसे ही मोही मोह कर करके दुःखी होते हैं । इस मोह में कुछ दूसरा उपाय सूझता ही नहीं है सो उसी मोह की चीज को ही अपनाते रहते हैं । जहाँ ऐसी विरुद्ध कल्पना जगती है वहाँ परम पद कैसे प्राप्त हो सकता है ।

**तृष्णा की चोट –** यह जीव शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व को भूला हुआ है । यह आत्मतत्त्व इन्द्रियके गोचर नहीं होते । यह मोही प्राणी इन्द्रिय से परे अतीन्द्रिय निर्विकल्प सहज तत्त्व भी कुछ है, इसकी श्रद्धा इसको नहीं है । सो यह व्यामोही जीव आत्मस्वरूप को भूलकर बाह्य विषयों में उलझ रहा है । कैसी उल्झन लगी है, लाखों का धन है और एक हजार रुपया ही कम हो गया, गिर गए या दे दिया या कोई छुड़ा ले गया, कितना कष्ट अनुभव करता है । जब बहुत छोटी स्थिति थी, हजार दो हजार की ही

सम्पत्ति पास में थी तब इतने कष्ट का अनुभव न करता था । आज तो उससे १०० गुणी सम्पत्ति है किन्तु करे क्या ? वर्तमान सम्पदापर संतोष कैसे आये, क्योंकि जो नहीं मिला हुआ है और जिसकी आशा लगाए हुए हैं उसकी अप्राप्ति का तो दुःख मचा हुआ है । ऐसी तृष्णा के वश होकर यह जीव बची हुई सम्पदा का भी सुख नहीं लूट सकता है । इन सब दुखों का मूल कारण ये अंतरंग के संकल्प-विकल्प-जाल हैं । तृष्णा बूढ़ी नहीं होती है, खुद बूढ़े हो जाते हैं । तृष्णा नहीं मरती, खुद मर जाते हैं । कैसा है यह तृष्णा का रोग जो इस चिदानन्दस्वरूप, अमूर्त, निर्लेप, ज्ञानप्रकाश, सर्वश्रेष्ठ आत्मा पर लदा हुआ है ।

**अज्ञानी का हल्ला** – पयार्यमुग्ध जीव इन चमड़े की आँखो से बाहर जो कुछ देखता है उसे सत्य समझता है । अरे ! जितना जो कुछ आँखों से दिखता है वह सब झूठ है, तू सच बताता है । क्या दिखता है ? यह आकार । ये मिट जाने वाली चीजें हैं, ये परमार्थ नहीं हैं । क्या दिखता है आँखों से ? रूपरंग । ये सब मिट जाने वाली पयार्य हैं, स्वतंत्र चीज नहीं हैं । और आंखों दिखे की बात क्या, इन पंचेन्द्रिय से और संकल्प करनेवाले मन से जितना जो कुछ जाना जाता है वह सबका सब माया है । भगवान भी इस तरह नहीं जानता जिस तरह हम आप जाना करते हैं । भगवान यह नहीं जानता कि यह अमुकप्रसाद का मकान है क्योंकि यदि भगवान ऐसा जान जाय तो फिर अमुकचन्द का मकान, वह बिल्कुल पक्का हो गया, अब मिटे कैसे ? भगवान ने जान लिया यहाँ सरकार में की हुई रजिस्ट्री हो जायगी, पर भगवान का ज्ञान तो फेल नहीं होता पक्की रजिस्ट्री हो गयी यदि भगवान जान जाय कि यह अमुक का मकान है । भगवान नहीं जानता है यों, पर यह मोही जीव जानता है कि यह मेरा मकान है, यह इनका मकान है, यह भगवान से भी बढ़कर ज्ञानी बनना चाहता है । जो भी बड़ा बनने का यत्न करता है वह धोखा खाता है । भगवान सब पदार्थों को जानता है । जैसा है तैसा जानता है, तो वह असत् को कैसे जान जाय ? असल में हम आपको परस्वामित्वविषयक यह ज्ञान नहीं है, सब अज्ञान है । भगवान के अज्ञान नहीं है । अज्ञान तो मोहियों में है ।

**कल्पना में बैचेनी** – अज्ञानी प्राणी कितनी कल्पनाएँ बनाता है, जिनका पार नहीं । कोई खुशी का समाचार मिल जाय तो उसकी कल्पना में रातभर यह नींद नहीं लेता । कितनी कल्पनावों की दौड़ लग गयी; कितना यह अच्छा हुआ । कोई बड़ी वेदना का समाचार मिल जाय तो यह कल्पनाएँ करके रात-दिन नींद न लेगा; कष्ट का अनुभव करेगा । है कुछ नहीं; पर इसने अपनी कल्पना में सारे विश्व को अपनाया है या अपनाना चाहता है । भैया ! कल्पना-जाल मिटे बिना वीतराग परमपद की प्राप्ति हो नहीं सकती । यह मोही प्राणी मन ही मन में कुछ गुनगुनाता रहता है, जैसे कहते हैं ना कि हवा से बातें करता है । जब तक यह कल्पनावों में ग्रस्त है तब तक इसे सत्य, शान्ति का पद प्राप्त नहीं हो सकता ।

**कल्पनाजाल मिटने का उपाय** – यह कल्पनाजाल कैसे छूटेगा, इसका उपाय यह है कि सर्व कल्पनाओं से रहित ज्ञानमात्र मुझ आत्मा का स्वरूप है, इसे श्रद्धा में लाये तो कल्पना दूर हो सकती है । सब उपदेशों का निचोड़ इतना है । जब तक कल्पना-तरंग उठती रहेगी तब तक शांति नहीं मिलेगी । और

कल्पना-तरंगों का उठना तब ही बंद होगा जब अपना ऐसा स्वरूप विदित हो कि कल्पनाजालों से रहित केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ । जब यह ऐसा ही उपयोग बनाता है अर्थात् उपयोग में केवल जानन, ज्ञानप्रकाश ही रहे, रागद्वेष की तरंग न रहे तब इस जीव को वह परम पद मिलता है जिस परम पद से सर्व प्रकार के कष्ट नष्ट हो जाते हैं । उसके लिए केवल एक ही ध्यान रखना है कि मैं अपने आपको ऐसा अनुभवूँ कि मैं देह से भी न्यारा, रागादिक से भी न्यारा केवल चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ । ऐसी शुद्ध दृष्टि बनाना है, फिर इस दृष्टि से परमार्थ आत्मीय आनन्द अवश्य प्रकट होगा ।

## श्लोक-86

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायण: ।
परात्मज्ञानसम्पन्न: स्वयमेव परं व्रजेत ॥८६॥

क्या क्रम रहता है, उस क्रम का इस श्लोक में वर्णन है । यह जीव अनादि से ही अव्रत-भावों में तन्मय चला आ रहा है । अज्ञानी भी है और अव्रती भी है । प्रथम तो सम्यक्त्व बाधक प्रकृतियों का उपशम आदिक प्राप्त करके याने उसका निमित्त पाकर आत्मतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा हो, शुद्ध आत्मस्वरूप का अवलोकन हो, इस तरह तो अज्ञान-अंधकार को दूर करे, अज्ञान-अंधकार को दूर करने वाला यह ज्ञानी पुरुष अव्रतभाव का परित्याग करे, अव्रती जीव व्रत का ग्रहण करे और व्रती जीव फिर ज्ञानभावना में लीन होकर व्रत-अवस्था के विकल्पों का त्याग करे । फिर यह ज्ञानपरायण पुरुष केवलज्ञान से सम्पन्न होता है, और केवलज्ञान से सम्पन्न होकर फिर सर्वदा सर्वोत्कृष्ट सिद्धपद को प्राप्त करता है ।

**विकास के पञ्च पद और प्रारम्भिक विकास का उद्यम** – भैया ! पहले सम्यक्त्व होना, फिर व्रत ग्रहण करना, फिर ज्ञानभावना में लीन होना, फिर केवलज्ञान से सम्पन्न होना, फिर इस मनुष्यभव को पार करके सर्व कर्मों से विमुक्त होकर सिद्ध पद प्राप्त करना, यों इस श्लोक में पंच पदों का संकेत किया गया है । इन पंच पदों की प्राप्ति से पहिले उसकी प्राप्ती के लिए विशेष उद्यमरूप परिणाम होता है । उत्कर्षमार्ग में चलने वाला भी सर्वप्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो यहाँ अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणाम की प्राप्ति होती है । ये तीन परिणामों के नाम हैं, गुणस्थानों के नाम नहीं हैं । ये मिथ्यात्व अवस्था में तीन करण होते हैं । जो जीव सातिशय मिथ्यादृष्टि है, अब निकटकाल में ही सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला है उसके अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम होते हैं । ये हुए सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए तीन करणरूप परिणाम ।

**द्वितीय विकासपद का उद्यम** – सम्यक्त्व पाने के बाद दूसरा कदम है व्रत ग्रहण करना । व्रतग्रहण के

लिये अध:करण और अपूर्वकरण इन दो परिणामों की प्राप्ति होती है । व्रतधारण करने के लिये तीन परिणाम नहीं होते हैं । इससे यह भी अंदाज कर लीजिए कि जिस कार्य के लिए तीन परिणाम होते हैं वह कार्य सदृश होता है, अनिवृत्त होता है, उसमें न्यूनाधिकता स्थानान्तररूप से नहीं पायी जाती है । सम्यक्त्व होने में तीन परिणाम हुए, तो सम्यक्त्व में न्यूनाधिकता क्या ? सम्यक्त्व के तीन भेद हैं – उपशमसम्यक्त्व, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व । इसमें उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए तीन करण होते हैं, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पाने के लिए दो करण होते हैं । यही कारण है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चल, मलिन, अगाढ़ दोष के कारण कुछ विविधता रहती है । किसी जीव का क्षायोपशमिक सम्यक्त्व किसी से अधिक निर्मल है किसी से कम निर्मल हैं यह विविधतारूप हो सकती है । कोई यहाँ व्रत ग्रहण करे अथवा अणुव्रत ग्रहण करे वहाँ भी दो करणों की आवश्कता है, क्योंकि उन अनेक वृत्तियों में भी व्रतों के पालने में कमीबेशी हुआ करती है ।

**तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम विकासपद – व्रत** ग्रहण करने के बाद अब यह ज्ञानपरायण होता है । जब परम पद्धति से ज्ञानपरायण होता है तो उसी का नाम है श्रेणियों पर चढ़ना । सो इस सप्तम गुणस्थान में अध:करण, अष्टम में अपूर्वकरण और नवम में अनिवृत्तिकरण परिणाम होता है । इन परिणामों के फल में कुछ ही समय बाद क्षीणमोह होकर केवलज्ञानी बन जाता है । यही है परमात्मज्ञान । परमात्मज्ञान से सम्पन्न होकर अर्न्तबाह्य सर्वथा निर्लेप शुद्ध होने के लिए, सर्वथा अबद्ध होने के लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती वृत्ति चलती है । केवलीसमुद्घात भी इस ही कर्मक्षय के लिए पूरक है । १४वें गुणस्थान में इन कर्मप्रकृतियों का क्षय होकर फिर परमदशा प्राप्त होती है । यों यह जीवन अज्ञान अवस्था से उठकर सिद्ध अवस्था तक पहुँचने के लिए यह क्रम पाता है । इस क्रम का कहीं भंग नहीं होता है । हाँ इतना तो हो जाय, कदाचित् कि सम्यक्त्व और व्रत इन दोनों का एक साथ ग्रहण हो जाय, इसीलिए इस श्लोक में अव्रती शब्द देकर अज्ञान अवस्था का और अव्रतभाव का दोनों का इसमें अंतर्धान कर दिया है ।

**क्लेशमूल इन्द्रजालों से आत्मविमोचन** – पूर्व श्लोक में यह कहा गया था कि इस जीव को क्लेशों में जोड़ने का कारण कल्पना-जाल है । यह कल्पनावों से ही अपना क्लेशजाल पूरता है, लोग कहते हैं कि ये सब इन्द्रजाल सरीखे मायामय दृश्य हैं । वह इन्द्रजाल क्यों कहलाता है ? इन्द्र मायने है आत्मा का और जाल का अर्थ है अयथार्थ मायामय विपरिणमन । जब यह आत्मा भ्रम के वश होकर अपनी विडम्बनाएँ फैलाता है तो उन सब विडम्बनाओं का नाम है इन्द्रजाल । कल्पनाजाल, इन्द्रजाल, मायाजाल ये सब जीवों के क्लेशों के कारण हैं । उन विकल्पजालों से हटकर निर्विकल्प सिद्ध पद को प्राप्त करें तो उसका यह क्रम है कि अव्रती से तो व्रती बनें और व्रती से फिर ज्ञान-भावना में लीन हो और ज्ञान भावना में लीन होकर केवलज्ञान को प्राप्त करें, और केवलज्ञान से सम्पन्न होकर सिद्धपद होगा ही ।

**कल्पनापरिहार से विकास की उद्भूति** – इस प्रसंग में अव्रतभाव को भी त्यागें, और व्रत को भी त्यागें यह कहा गया है । सो व्रत को त्यागने का मतलब है उत्कृष्ट ज्ञानभावना में लीन होकर व्रत का भी विकल्प त्यागें । व्रत त्यागने का मतलब कहीं यह नहीं है कि अहिंसाव्रत लिया था तो अहिंसाव्रत को छोड़ दो या सत्य आदिक व्रत लिया था तो सत्य आदि व्रतों को छोड़ दो, किन्तु अहिंसा के पालन करने में जो

विकल्प चल रहा था, सत्य व्रत के पालन करने में जो विकल्प और प्रवृत्ति चल रही थी उस विकल्प का परित्याग कर दो, यह उसका भाव है । अव्रतभाव ५ होते हैं – हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह । उन पापों में जो अनुरागी हैं ऐसे जीवों को कहते हैं अव्रती । ये जीव प्रकृत्या अनादि से अव्रत परिणाम में अनुरागी होते चले आ रहे हैं । अब ये क्या करें, अव्रत को छोड़ दें, व्रत को ग्रहण कर लें । वहाँ भी यह अर्थ लेना है कि अव्रत सम्बन्धी जो विकल्प कर रहे थे उस विकल्प को त्याग कर दें ।

**भावात्मक जीव की भावात्मक परिणति –** यह जीव भावात्मक है । इसके हाथ पैर आदि कुछ अंग तो हैं नहीं । इसके रूप, रस, आकार, प्रकार तो हैं नहीं । यह किसी से छिड़ता है, न छिदता है, न भिदता है, न जलता है, न डूबता है, न उड़ता है । यह तो एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य तत्त्व है । यह भावात्मक है, अपने भाव करता है – चाहे वह कल्पनारूप भाव हो और चाहे ज्ञातादृष्टा रहनेरूप भाव हो । भाव के सिवाय और यह जीव कर क्या सकता है ? अव्रत अवस्था में इस जीव ने अव्रत सम्बन्धी विकल्पों को किया और उन्हीं विकल्पों के कारण इस जीव को पाप का बंध हुआ चूंकि ऐसा कभी हो नहीं सकता कि यह जीव अव्रत सम्बन्धी विकल्प न करे और जीव को सताता रहे, इसी कारण जीवों को मारना-पीटना, सताना इसे बुरा कहा गया है । मर्म वहाँ यह पड़ा हुआ है किसी जीव को मारने पीटने विषयक जो इस जीव के कल्पना जगी है वह कल्पना पाप है, किसी पर वस्तु के परिणमन से पाप नहीं होता । मान लो, किसी की पीठ पर आपने मुक्का घाल दिया तो वहाँ पुद्गल पुद्गल का ही तो संघात हुआ । वहाँ पाप कैसे लगा ? वहाँ पाप यों लगा कि मुक्का मारना जिस आत्मा के भाव का निमित्त पाकर हुआ उस जीव ने अपने में कल्पना मचायी, विकल्प-जाल किया वह विकल्प-जाल पापरूप है सो पाप का बंध हुआ । तो अव्रती जीव अव्रतविषयक कल्पनावों को किया करता है । उन कल्पनावों का परित्याग करना सो अव्रतभाव का परिहार करना कहलाता है ।

**हितमार्ग में ज्ञानभाव के आश्रय का प्रसार –** अब यहाँ जीव के व्रत की कल्पनाएँ आ गयीं । अब शुभ भाव दया, दान, संयम जीवरक्षा आदि अनेक शुभ भावों के विकल्प आ गये । अब यह जीव आगे का उत्कर्ष पाने के लिए उन व्रत आदिक शुभ विकल्पों का भी परिहार करे और एक शुद्ध ज्ञानभावना में परायण हो । यहाँ यह बात विशेष जानने की है कि ज्ञानस्वभाव की दृष्टि बिना तो मोक्षमार्ग ही नहीं चलता है, व्रत भी नहीं होता है अव्रत का परिहार नहीं कर सकता है, सो उस अव्रतपरिहारोद्यमी ने ज्ञान की झलक पाली है ऐसी स्थिति निकटपूर्व थी अब व्रत धारण करके उसने बहुत से दुर्विकल्पों का अभाव कर डाला । असंयत, अव्रत, अनर्थ विकल्पों का परित्याग किया, अब उसने ऐसा अवसर पाया । अब निज ज्ञानस्वभाव की अधिकाधिक उपासना कर डाली । अब उसे ज्ञानभावना का अवसर प्राप्त हुआ, सो व्रती बनकर व्रत का भी विकल्प तोड़कर केवल शुद्ध ज्ञानभाव की भावना में लीन रहता है । इसमें प्रथम दो शुक्ल ध्यान की अवस्था आती है, फिर ज्ञानपरायण होकर यह जीव स्वयमेव ही परात्म ज्ञान सम्पन्न होता है ।

**शुभविकल्पमय और निर्विकल्प उद्यम –** भैया ! जहाँ तक रागभाव था वहाँ तक हित के कार्य में इसकी जान-बूझकर प्रवृत्ति होती थी । अव्रत से व्रत अवस्था में आया और व्रत अवस्था से ज्ञानपरायण होने का उद्यम किया, यहाँ तक तो विकल्प मदद दे रहा था किन्तु अब ज्ञानपरायण अवस्था में विकल्प नहीं रहा । अब जो कार्य होगा वह बिना यत्न किए, समझिये स्वयं होगा । ज्ञानपरायण यह जीव परमात्मज्ञान से युक्त होता है इस ज्ञान का नाम है केवलज्ञान । केवलज्ञान का अर्थ है जहाँ केवलज्ञान है; ज्ञान रहे, कोई रागद्वेष आदिक किसी भी तरंग का लेश मात्र भी न रहे, संस्कार भी न रहे । ऐसे परभाव से सर्वथा मुक्त ज्ञानभाव रह गया । जब यह परभाव से मुक्त होता है तो ज्ञान में ऐसा स्वभाव पड़ा है कि वह तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थों को स्पष्ट जान लेता है । यह हुई इसकी सर्वज्ञ अवस्था । इस अवस्था को हजारों नामों से पुकारा गया है । यह केवलज्ञानी पुरुष स्वयंभू होता है, जो कुछ हुआ वह स्वयं होता है, किसी दूसरे पदार्थ का आश्रय करके नहीं होता है । इसने तो विशुद्ध निजस्वरूप की भावना की, उस ज्ञानभावना के प्रसाद से यह निर्दोष अवस्था प्रकट हुई है ।

**भेदविज्ञान और ज्ञानविलास –** इस ज्ञानभावना की प्राप्ति के लिए भेदविज्ञान की प्रथम आवश्यकता है । मैं समस्त विश्व से न्यारा हूँ, केवल निजस्वरूपमात्र हूँ, निरन्तर परिणमता रहता हूँ । मेरा किसी भी अन्य पदार्थ के साथ रंच सम्बन्ध नहीं है । मैं अपने आपको ही करता हूँ, किसी पर पदार्थ को नहीं करता हूँ । मैं अपने आपके द्वारा अपने आपका ही परिणमन कराता हूँ, किसी अन्य पदार्थ को मैं प्रेरणा नहीं दिया करता हूँ । मैं हूँ ज्ञानस्वरूप और साथ ही परिणमनशील । यह परिणमता रहता है ज्ञानभावरूप से और उसी ज्ञान का स्वभाव जानन का है, सो उसी परिणमन को जान भी रहा है । परिणमना और जानना ये दोनों एक साथ इस आत्मपदार्थ में ही हो सकते हैं । इसी कारण इस आत्मा का नाम समय कहा गया है । यद्यपि समय शब्द सभी द्रव्यों का स्वरूप बताने के लिए भी है । जो अपने आपके एकत्वरूप में रहकर परिणमन को प्राप्त किया करे उसे समय कहते हैं । सम् उपसर्ग है और अय धातु है । सभी पदार्थ अपने आपके एकत्व स्वरूप में रहकर परिणमते रहते हैं । यह आत्मपदार्थ भी अपने स्वरूप में एकत्वरूप से रहकर निरन्तर परिणमता रहता है । यों तो समय शब्द के पहिले अर्थ में सभी द्रव्यों का समानरूप से ग्रहण है, पर दूसरा अर्थ सम् याने परिणमन के साथ ही साथ जो अपने को जानता है उसको समय कहते हैं ।

**समय की स्वसमयता –** यह आत्मा निरन्तर परिणमता रहता है और इस ही को अभेदरूप से वर्तकर जानता रहता है । वहाँ परिणमन और जानना इन दोनों का कैसे भेद किया जाय ? जो कुछ होना है सो हो रहा है । उसको परखनेवाला ज्ञानी जीव सम्यक्त्व को प्रकट करता है । सो यह पुरुष पहिले अव्रत के विकल्पों का परित्याग करके व्रतभाव को ग्रहण करे, फिर व्रत सम्बन्धी विकल्पों का भी परिहार करके ज्ञानभावना में परायण हो और फिर उस शुद्ध ज्ञान की अभेद उपासना के प्रसाद से स्वयं ही केवलज्ञान होगा और केवलज्ञानसम्पन्नता के बाद स्वयं ही यह सिद्ध पद को प्राप्त करेगा यों यह जीव अज्ञान-अंधकार से उठकर इस विधि से उत्कर्ष करता हुआ परमोत्कृष्ट शुद्ध सिद्धपद को प्राप्त करता है ।

## श्लोक-87

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।

न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्राहाः ॥८७॥

**लिङ्ग के आग्रह में मुक्ति का अभाव –** जैसे अव्रत और व्रतभाव में जिनका विकल्प लगा हुआ था उनको मोक्ष का मार्ग नहीं मिला; उन विकल्पों से मोक्ष नहीं मिल सका, इसी प्रकार जो देहाश्रित लिङ्ग हैं, भेष हैं उनमें जिनका आग्रह लगा हुआ है, विकल्प लगा हुआ है उनको भी संसार से मुक्ति नहीं होती है । जैसे साधुओं के भेष लोक में देखे जाते हैं, कोई जटा धारण कर लेता है कोई शरीर में भस्म रमाता है तो कोई नग्न भेष रखता है । कोई भी भेष हो, चाहे जटा वाला हो चाहे भस्म वाला हो और चाहे नग्न रूप हो, आखिर हैं तो ये सब देह के आश्रय । और, देह ही संसार है; देह के आश्रित ही ये चिह्न हैं, चिह्नों के नाते से मुक्ति का मार्ग न मिलेगा । यह बात दूसरी है कि जिन जीवों को मोक्ष का मार्ग मिलता है उनके ज्ञान और वैराग्य इतना प्रबल होता है कि उन्हें बाह्य परिग्रह से कुछ प्रयोजन नहीं, अतएव वे सब परिग्रह छूट जाते हैं । जब सब परिग्रह छूट गए तो नग्नरूप तो स्वयं ही बन जाता है, ठीक है, पर जो साधु नग्नरूप रखकर मैं साधु हूँ, इससे मुझे मुक्ति मिलेगी उस नग्नरूप भेष में विकल्प बनाए रहे तो भी मोक्ष नहीं होता है ।

**विकल्पों के आग्रह में सम्यक्त्व का भी अभाव –** जो केवल बाह्य भेष को ही मोक्ष का कारण मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, देहात्मदृष्टि है, उसे मुक्ति नहीं प्राप्त होती है । भैया ! अपने आपके मिलन में कितनी बीच में अटकें हैं, कोई इस भेष को ही मान ले कि मुक्ति मिलेगी, मैं साधु बन गया हूँ, मुझे तपस्या करना चाहिए, आदि विकल्प बनाए तो उसने तो यथार्थ 'मैं' को जाना ही नहीं । उसे विकल्प से मुक्ति नहीं होती है, जो जीव व्रत और तप को धारण करके मैं अहिंसा महाव्रत पालता हूँ, मैं शुद्ध अचौर्य आदि महाव्रत पालता हूँ, मैं ठीक समितिपूर्वक रहूँगा, साधु को तेरह प्रकार के चारित्र पालने चाहिए, मैं उनका पालन कर रहा हूँ यों सोचे उसको तो अभी सम्यक्त्व ही नहीं जगा है । भैया ! कितने मर्म की बात है । वही काम सम्यग्दृष्टि करता है तो उसे सफलता मिल जाती है और बाह्य में वही काम अज्ञानी मिथ्यादृष्टि करता है तो उसे सफलता नहीं मिलती है ।

**अज्ञानी द्वारा की हुई बाह्य नकल से अलाभ पर एक दृष्टान्त –** कोई चतुर व्यापारी व्यापार के काम से किसी धान के मिल पर गया । उसके साथ एक गरीब बेवकूफ भी लग गया कि देखें सेठजी क्या करते हैं । जो सेठ जी करेंगे सो ही हम करेंगे तो हमारे भी लक्ष्मी आयगी । व्यापारी ने क्या किया कि १०-२० गाड़ी धान खरीदा । वह देख रहा है कि यह क्या खरीद रहा है । रूप, रंग, आकार सब समझ लिया । व्यापारी खरीदकर आ गया । अब यह दो चार दिन बाद इधर-उधर से रुपये उधार लेकर उसी मिल पर

गया । तो आज कल तो ऐसे बड़े मिल चल गए हैं चावल निकालने के, कि छिलका में से चावल निकल आता है और छिलका ज्यों का त्यों दिखता रहता है । एक तरफ से ऐसा चावल निकल आता है कि छिलका वैसा का वैसा ही बना रहता है । चावल निकलने के बाद उसका छिद्र बंद हो जाता है । देखा कि गाड़ियों में वही चीज पड़ी हुई हैं । मिलवाले से पूछ कि यह चीज हम १० गाड़ी खरीदना चाहते हैं, क्या भाव दोगे ? इतनी बात सुनकर मिल व्यवस्थापक की समझ में आ गया कि आज भगवान ने किसी बेवकूफ को भेजा है, सो मनमाना भाव बोलकर उसे बेच दिया । जब उसे खरीदकर वह बाजार में बेचने ले गया तो किसी ने न पूछा । लो, उस की सारी रकम चली गयी । तो चतुर आदमी की नकल बेवकूफ, पुण्यहीन करता है तो क्या उसे सफलता मिलती है ?

**अज्ञानी द्वारा की हुई ज्ञानी की वृत्ति की बाह्य नकल में लाभ का अलाभ –** विवेकी व्यापारी की तरह बड़े पुरुष ज्ञानी संत, मोक्षमार्गी साधुजन क्या करते हैं उनकी क्रियावों को देखकर कोई रसोईया, बैल हाँकने वाला, पानी भरने वाला किसी कारण से देखकर सोचे कि जो यह करता है सो हमें करना चाहिये । इस विधि से हम दु:खों से छूट जायेंगे । और कर ले वही काम, मुनि बनकर, नग्न रूप रखकर अपने में अहंकार रखकर कि मैं साधु हूँ, अब मुझे साधुव्रत मिला है, अब चर्या को इस तरह उठाना चाहिए, इतनी निगाह रखना चाहिये, और जो लिखा भी न हो वह भी बढ़ावा करे तो कितना ही वह इस व्रत से रहे, पर अंतरंग में तो अभी सम्यक्त्व भी नहीं जगा है । यह लिङ्ग मायने यह भेष, यह चिह्न तो देह के आश्रित है उस चिह्न से, उस भेष से ही मोक्षमार्ग माने तो इसका यह अर्थ हुआ कि इस शरीर को ही मोक्षमार्ग मान लिया । जो भेष में आग्रह बनाता है वह पुरुष भी संसार से मुक्त नहीं हो सकता है । इस भेष का आधार देह है और देह ही इस आत्मा का संसार है । देह का अभाव हो तो संसार नहीं है । जब तक देह है तब तक संसार है । तो देह सम्बन्धी इन विकल्पों को करता हुआ यह शान्ति चाहे, मुक्ति चाहे तो कहाँ से मिल सकती है ?

**समस्त एबों का मूल देह का लगाव –** भैया, सारे ऐबों की जड़ इस देह का लगाव है । कोई गाली सुना गया तो बुरा क्यों लग गया ? इस देह का लगाव है, इस कारण ये विकल्प उठ रहे हैं, इसने मुझे यो क्यों कह दिया ? अब उन विकल्पों के कारण सब बात अपने ऊपर घटाता और दु:खी होता है, देह में लगाव है तब तो स्त्री, पुत्र, घर, सम्पदा इनको यों मानता है कि ये मेरे हैं । देहरहित अमूर्त आत्मतत्त्व को माने कि यह मैं हूँ तो वह यह नहीं श्रद्धा कर सकता है कि ये पुत्री, स्त्री मेरे हैं, जिसने अपने अन्तर में स्थित 'मैं' को पहिचाना है उसको बाह्य में ममता नहीं जग सकती है । सारे क्लेशों का मूल कारण इस देह में आत्मबुद्धि है । लोग शान्ति के लिए रात-दिन अथक प्रयत्न करते हैं । इतना काम कर लें, पर शान्ति नहीं मिल पाती है । विपरिणति में शान्ति की भी कुछ पद्धति नहीं है, कैसे शान्ति मिले ।

**वैभव विभाव के परिहार से ही महत्त्व -—**कल्पना करो कि जितना आपके पास धन हो उससे दुगुना तिगुना चौगुना हो जाय तो कौन सी बड़ी विशेषता अंत में प्राप्त हो जायगी । आज थोड़ा विकल्प है, थोड़ा धन होने से थोड़ी फिकर है, रक्षा आसानी से होती है । धन अधिक हो गया तो विकल्प और

अधिक बढ़ गए । कौन-सा लाभ पाया ? अरे ! हिम्मत करके इस धन-सम्पदा को पुण्य पर निर्भर कर दो, इस लक्ष्मी की अटकी हो तो मेरे घर आये, न अटकी हो तो न आये । हम पुराणों में बड़े आदर्श चरित्र सुनते हैं, अमुक महापुरुष ने ऐसे संकट भोगे । जिसने संकट भोगा उनका ही तो चरित्र पुराणों में लिखा है कि भोगविषय-साधनों में जो जीवनभर लिप्त रहे, उन्हीं साधनों में मर गए उनका भी चरित्र कहीं आदरणीय हुआ है ? कहीं नहीं लिखा है । अगर लिखा भी है किन्हीं मलिन पापी पुरुषों का चरित्र पुराणों में, जिनने अन्याय किया अथवा जीवन-भर विषय-साधनों में रहे तो किसी विशिष्ट पुरुष के पुण्यचरित्र का मुकाबला दिखाने के लिए लिखा है, उसके लिये नहीं लिखा है, अथवा ऐसा खोटा चरित्र होकर भी फिर अपने जीवन में कभी सुधर गया तो उसका चरित्र लिखा गया है ।

**वैभव के लगाव से शान्ति का अभाव** – भैया ! क्या होता है सम्पदा से ? जितना यत्न करके दूसरों से आशा करने में समय गँवाते हैं, धन-सम्पदा की रक्षा चिंता और स्वयं में समय गँवाते हैं उसका कुछ भी अंश यदि ज्ञानाभ्यास में, आत्मस्वरूप की निगाह में बनाने में, ध्यान में, चिंतन में, सत्सङ्ग में बिताया जाय तो उससे शांति मिल सकेगी । शान्ति सम्पदावों से नहीं मिलती है । आखिर सम्पदा छोड़ तो सभी जायेंगे, आगे की भी शांति का अवसर नहीं रहा और वर्तमान में भी कुछ वैराग्य न होने से, तृष्णा की बुद्धि होने से शांति नहीं मिली तो यह मानव-जीवन किस लिये पाया गया है । सब एबों का मूल इस शरीर में आत्मबुद्धि करना है । जो जीव इस देह में आग्रही है, इस देह के भेष में आग्रही है, जिसने इस भेष को ही मुक्ति का कारण माना है, जो संसार को अपनाए हुए हैं वह मुक्ति नहीं पा सकता है, फिर तो बतावो जो विषय-भोगों के आग्रही हैं, जो परिग्रह, तृष्णा के आग्रही हैं, धन बढ़े तो उसी में ही जो अपना बड़प्पन समझते हैं उनकी क्या गति होगी, वे संसार से क्या सुलटने लायक हैं ? जड़ ही जड़ उपयोग में बसाये हुए हैं, चैतन्य तो बसा ही नहीं है ।

**स्वप्न के क्लेश** – अहो ! मोह-नींद का कितना विकट स्वप्न है । जैसे स्वप्न में किसी ने कोई दुःख भरी घटना देखी तो वह तो दुःखी ही है । उसके दुःख को दूसरा कौन मेट सकता है । जैसे मान लो आप अपने अच्छे कमरे में, हाल में पड़े हुए हैं, जहाँ गद्दी तवकी अच्छी बिछि हुई है, जाड़े के दिन हैं, अच्छे किवाड़ भी लगे हैं, बिजली से गरम किया हुआ है । बड़े आराम से सोये हुए हैं , रंच भी कष्ट नहीं है । और कदाचित् स्वप्न आ जाय आपको चलो जी सैर करने चलें, एक समुद्र की सैर करें, बाम्बे चलें और आपके घर के सभी लोग आग्रह करें कि हमें भी बम्बई दिखलावो । लो, सब घर बाम्बे पहुँच गया, घर के द्वार पर खूब मजबूत ताले लगा दिये, समुद्र की सैर करने चले स्वप्न की बात सुना रहे हैं । आप पड़े हैं अपने हाल में फिर स्वप्न ऐसा आ जाय कि सपरिवार आप समुद्र की शैर करने गये । नाव में बैठ गए, एक मील तक जहाज अच्छी तरह गया । किन्तु अब वहाँ बड़ी भँवर उठ गयी । जहाज उसमें चक्कर खाने लगा । डूबने वाला हो तो आप गिड़गिड़ा रहे हैं उस नाव खेने वाले से । अरे भाई ! किसी तरह से बचा दो, तुम्हें ५हजार देंगे, १०हजार देंगे । वह कहता है कि मालिक तुम तो दयालु हो, यह जहाज नहीं बच सकता है, यह डूबेगा, हमें छुट्टी दो, हम तो छलांग मारकर तैरकर पार हो जायेंगे ।

**स्वप्न के क्लेश मिटने का उपाय –** देखो भैया ! पड़े हैं आप अपने अच्छे हाल में और स्वप्न आ रहा है ऐसा बुरा । अरे ! मैं भी मरा, मेरा परिवार भी गया, ऐसा सोचकर वह कितना दुःखी हो रहा है । अरे ! जिसका सर्वस्व डूब रहा हो उसके दुःख का क्या ठिकाना ? अब आपके इस दुःख को कौन मेटे ? नौकर-चाकर भी फिर रहे हैं, दोस्त भी बैठे हुए हैं कि सेठ जी जगें तो दो चार गप्पें हों, चित्त प्रसन्न करें, सारे वहाँ साधन हैं, पर सेठजी का तो हाल बुरा है । स्वप्न में वह ऐसा दब गया है कि महा संकट उस पर छाया हुआ है । उस दुःख को दूसरा कौन मेटे । उस दुःख के मिटने का केवल एक ही उपाय है कि उसकी नींद खुल जाय । लो, सारे दुःख मिट गये । उस नींद में पड़ा हुआ जो स्वप्न दिख रहा है उसका ही तो यह सारा क्लेश था । नींद मिटी, देखा कि हम तो बड़े अच्छे हाल में पड़े हैं, बड़े ढंग से हैं, सारी अपनी सम्पदा को देख रहे हैं, सारा दुःख मिट गया ।

**मोहनींद के विकल्प स्वप्न के क्लेश और उसके मिटने का उपाय –** भैया ! जैसे नींद में स्वप्न आया उसमें क्लेश हुआ तो उस दुःख को मिटाने में समर्थ निद्रा का भंग है, इसी प्रकार मोह की कल्पना में जो ये सारे क्लेश व्यर्थ के आ गए हैं – मेरा तो मेरा यह तन भी नहीं है अन्य कुछ तो क्या होगा मेरा फिर भी बाह्य पदार्थों में यह कल्पना बसायी है मेरी सम्पदा है, मेरा परिवार है, मेरे मित्र हैं, मेरी इज्जत है । ये स्वप्न देखे जा रहे हैं, मैं–मैं, मेरा-मेरा कर रहे हैं और ये पर पदार्थ हम आपकी इच्छा के अनुकूल परिणमन कर नहीं सकते, वहाँ तो जो होगा सो होगा । अब उन्हीं कल्पनावों के सहारे ये चिंताएँ उत्पन्न हो गयी हैं – हाय ! ये मेरा कोई कहना नहीं मानते, ये सब प्रतिकूल हो गए यों दुःखी होते रहते हैं । इस दुःख को कौन दूसरा मेटे ? इस दुःख को मेटने का उपाय केवल एक ही है, यह मोह की निद्रा टूट जाय; वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाय, प्रत्येक पदार्थ की जो स्वतंत्रता है वह ज्ञात हो जाय । किसी पदार्थ का किसी पदार्थ में कोई प्रवेश नहीं है, अत्यन्ताभाव है निमित्तनैमित्तिकभाव में भी निमित्तभूत अर्थ बाहर बाहर ही रहता है, भीतर इसका प्रवेश नहीं है । इतनी आजादी ध्यान में आये तो ममता टूटे, अहंकार मिटे; तब वहाँ इस जीव को शान्ति का मार्ग मिल सकता है ।

**बाह्य निमित्त पोजीशनों में भी अज्ञान का साम्य –** अज्ञान के नाते से सब अज्ञानी समान हैं । एक गृहस्थ अज्ञानी है जो धन संचय में, पोजीशन बनाने में, इज्जत रखने में अपनी धुन बनाये हुए हैं और एक नग्नभेषी, जटावाला भस्मभेषी या अन्य कोई प्रकार के स्वरूप का अज्ञानी हो तो यह अपनी कल्पना किए हुये चारित्र में धुन लगाये हुये हैं । मुझे यों करना है । तो यह भी देहात्मदृष्टि बनकर अज्ञानी ही रहा । कर्मों की निर्जरा शरीर की क्रियायें निरखकर नहीं होती । वहाँ तो उस प्रकार का परिणाम आत्मा का होना चाहिये जिसका निमित्त पाकर कर्मनिर्जरा हुआ करती है । ये भेष के आग्रही पुरुष भी देह में आग्रही हैं, संसार के आग्रही हैं, इनको भी संसार से मुक्ति प्राप्त नहीं होती है ।

**देहलिङ्ग के आग्रह के परिहार का अनुरोध –** भैया ! जैसे व्रत-पालन के विकल्प होते सन्ते मोक्ष नहीं मिलता है ऐसे ही इस शरीर के भेष के रखने में भी मोक्ष नहीं मिलता है । व्रत का विकल्प तो शुभ भाव भी है वह तो कुछ लाभकारी भी है, पर देह का भेष बनाकर यह मैं साधु हूँ, यों देहाश्रित वृत्ति करके

उसमें मग्न रहा करे तो वहाँ तो भाव भी शुद्ध नहीं रह पाता है । भीतर अज्ञानभाव है इस कारण इस लिङ्ग के आग्रह को भी छोड़कर ज्ञानमात्र अपना दर्शन करे । यह आत्मदर्शन ही दृढ़ होकर मोक्ष का साक्षात् कारण होता है ।

## श्लोक-88

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भव: ।

न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रह: ॥८८॥

**जाति के आग्रह में मुक्ति का अभाव –** जैसे अव्रत के विकल्प; व्रत के विकल्प और लिङ्ग के अर्थात् साधु भेष के विकल्प मुक्ति में बाधक हैं इस ही प्रकार जाति सम्बंधी विकल्प भी मुक्ति के बाधक हैं । जाति देह के आश्रित देखी गयी है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र ये चार प्रकार की जातियाँ हैं । ये देह के आश्रित ही तो हैं । देह से ही तो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिक की कल्पनाएँ होती हैं, मात्र चैतन्यस्वरूप में जातियों की कल्पना नहीं है ये तो जातियाँ देह के आश्रित हैं, देह ही आत्मा का संसार है, इस कारण जो जीव जाति में आग्रह पकड़े हुए हैं कि मैं अमुक जाति का हूँ, मुझे मुक्ति तो नियम से होगी अथवा मेरी जाति से ही मुक्ति है यों जाति में ही आग्रह किए हुए हैं वह भी संसार से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है ।

**जातियों के प्रकार और जातिव्यवस्था के पहिले का समय –** प्राचीन पद्धति में चार प्रकार की जातियाँ हैं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । ये चार जातियाँ उनके अपने कर्तव्यों के आधार पर बनीं थीं और इन कर्तव्यों को करते रहने से उस ही जाति के उस ही प्रकार के भाव हुआ करते हैं, इस कारण ये चार जातियाँसुदृढ़ हो गयी हैं । इस आर्यखण्ड में जहाँ हम आप बस रहे हैं और प्राचीन समय में जिसका कि कुछ कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर गुजर गया है यहाँ भोग भूमि थी । भोगभूमि में जीवों को, मनुष्यों को कोई रोजगार, आरम्भ नहीं करना पड़ता था । लौकिक सुखिया जीवन था, जहाँ पति-पत्नी स्वच्छन्द विचरते थे । दो दिन में, तीन दिन में जिस समय भूख लगती थी, अल्पाहार था, कल्पवृक्ष उस समय काफी संख्या में थे सो उनका जो इष्ट भोजन था वह उन कल्पवृक्षों से प्राप्त होता था । इसी प्रकार जो कुछ भी शौक के साधन थे, वस्त्र हो, संगीत की चीजें हों, जितने भी शौक के साधन होते हैं वे भी कल्पवृक्ष से प्राप्त हो जाते थे । उनका लोकदृष्टि में बड़ा सुखिया जीवन था । लेकिन समय जैसे गुजरा तैसे ही सुख में कमी आने लगी । उन कमियों के समय १४ मनु उत्पन्न हुए ।

**भोगभूमि और कर्मभूमि के सन्धिकाल में मनुओं का अभ्युदय –** भैया ! १४ मनु तो अन्य लोग भी मानते हैं । मनु के ही संतान का नाम मनुज है । मनुज नाम मनुष्य का है । उन मनुवों के उस समय जो

विडम्बनाएँ आती थीं अपने अवधिज्ञानादि बल से सोचसमझकर वे प्रजा को उपदेश करते थे, वे बताते थे कि इस तरह से चलो तो जीवन सुखमय रहेगा । भोगभूमि के समय में सिंह, हिरण, मनुष्य ये सभी रहते थे । डर किसी को किसी से न था । उनमें क्रूरता न थी । वे माँसभक्षी न थे, पर जैसे ही भोगभूमि का अंत हो चला तो सिंह आदिक जानवर गुर्राने लगे, बुरी निगाह से देखने लगे । लोगों को बड़ा भय हुआ, किसी मनु ने उनका भय मिटाया । सूर्यचन्द्र ये दिखा न करते थे । वहाँ स्वयं ही इतना बड़ा उजेला रहता था जिस उजेले के कारण सूर्यचन्द्र न दिखते थे, अब कल्पवृक्ष का प्रकाश कम हो गया, सूर्यचन्द्र दिखने लगे तो इसका ही बड़ा डर हो गया । ये क्या दो गोल-गोल से सिर पर मढ़े हुए हैं, कहीं गिर न जायें, इस डर को मिटाया । उस समय तक संतान जुगलिया होते थे बच्चा और बच्ची, और संतान के होते ही माँ-बाप गुजर जाते थे । माता-पिता के रहते-संते भी वे संतान रहने लगे, उनका यह भी एक बड़ा अचरज था कि यह क्या झमेला हो गया ? ये दो क्या टूट पड़े । कितनी ही विडम्बनाएँ आयीं, सबका मनुओं ने निवारण किया ।

**अंतिम मनु –** अंतिम मनु हुए हैं नाभिराज। ये ऋषभदेव के पिता थे, लोग ऐसा कहा करते हैं कि विष्णु की नाभि में से कमल निकला, उसमें पैदा हुए । अर्थ यह था कि नाभि से पैदा हुए । आपको मालूम है कि ऋषभदेव जब सर्वदर्शी हो गए तो उनमें इतना अतिशय हो गया कि समवशरण के चारों ओर बैठे हुए मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, देवियाँ सबको भगवान का मुख दिखता था । परमौदारिक शरीर था, चारों ओर से मुख दिखता था । तब उनकी प्रसिद्धि चर्तुमुख रूप की हुई । चर्तुमुख अरहंत भगवान हुये हैं । साथ ही उस समय एक धर्म की सृष्टि की और भोगभूमि मिटने के बाद कर्मभूमि की नई-नई बातें बतायीं । एक नवीन सृष्टि जैसी बात हुई इसलिये वह सृष्टि ब्रह्मा की कहलाती थी और वे हुए नाभिराजा से उत्पन्न । तो नाभि कोई राजा थे यह बात तो छोड़ दी और नाभि से उत्पन्न हुये यह अर्थ प्रसिद्ध हो गया । खैर, नाभिराज १४वें याने अन्तिम कुलकर थे ।

**अन्तिम मनु के काल में तीन जातियों का विभाजन –** नाभिराय मनु के समय में खाने-पीने की बहुत बड़ी समस्या सामने आयी, कैसे खायें-पियें । कल्पवृक्ष से सब कुछ मिलना बंद हो गया तो उस समय नाभिराज ने प्रार्थना में आये हुये प्रजाजनों को ऋषभदेव के पास भेजा तो उन्होंने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्पी-सेवा—ये सब ६ प्रकार के कर्म बताये । इनसे गुजारा करो, व्यापार खेती से गुजारा करो, शिल्पकला-सेवा से गुजारा करो, लिखने-पढ़ने मुनीमी सभी बातें बतायीं और शासकों के लिए सिपाहियों-रक्षकों को असि, तलवार आदिक हथियारों का भी प्रयोग सिखाया । उस समय तीन वर्णों की स्थापना ऋषभदेव ने की—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । जो रक्षा का काम करें उन्हें तो क्षत्रिय कहा, उनका असिप्रधान कार्य रहा । जो शिल्प-सेवा करने में चतुर हों ऐसे पुरुष शूद्र कहलाये और मसि, कृषि, वाणिज्य इन कार्यों के करने वाले वैश्य कहलाये । ये तीन प्रकार बहुत समय तक चलते रहे ।

**भरतचक्री द्वारा ब्राह्मणों की व्यवस्था व आस्था –** एक बार भरत चक्रवर्ती ने विवेक जानने के लिए अपने यहाँ आमंत्रण किया और आँगन में कुछ धान बो दिया । अंकुर उत्पन्न हो गये । सब लोग आये, उनमें

जो विवेकी पुरुष थे वे धानों के अंकुरों को बचाकर कुछ रास्ता घेरकर आये अच्छे रास्ते से और जो विवेकहीन थे वे उन अंकुरों को कुचलते हुए जल्दी पहुँचने की गरज से, कौन चक्कर काटे, सीधे पहुँच गये । उस समय भरत जी ने उन विवेकी पुरुषों को ब्राह्मण बताया, ये जीव को पहिचानते हैं; ब्रह्म को जानते हैं । 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मण:' ज्ञानी कहो, ब्राह्मण कहो, संयमी कहो एक ही अर्थ है, उन्हें ब्राह्मण की संज्ञा दी । शेष तीन तो थे ही । उनमें जो विवेकशाली थे उनको ब्राह्मण ठहराया । उनका बड़ा सत्कार किया । ऐसे बुद्धिमान, ऐसे विवेकशील महाभाग पुरुषों का आदर करना उचित ही था । तब से ये चार जातियाँ अभी तक किसी न किसी रूप में चली आ रही हैं ।

**समयनिर्गमन में यथावसर अनेक जातियों का बनावा** – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियों में अब धीरे-धीरे विवाह-परम्परा शुरू हो गयी थी । एक धर्मपद्धति रखने के लिये अपने कुटुम्बियों में विवाह करने की प्रथा न थी, उसी को कहते हैं गोत्र । जो अपने परिवार के लोग हों चाहे दस, बीस पीढ़ी पुराने हों वे सब अपने कुटुम्ब के लोग हैं, यह कैसे जानें ? तो यह गोत्र से जाना जाता था । विवाह परम्परा में गोत्र मालूम किया जाता था, लेकिन धीरे-धीरे कुछ और ऐसे भगत भाईजी उत्पन्न हुये जो अपनी बड़ाई स्थापित करने के लिये कुछ और उपजातियाँ बना बैठे – खंडेलवाल, परवार, जैसवाल, अग्रवाल, गोलालारे, गोलासिंधारे जो किसी गाँव के कारण, किसी समूह के कारण भेद पड़ गया । अब यह भेद का विस्तार बढ़ता गया और उन भेद और जातियों के नाम पर विसंवाद भी बढ़ गया । ये सब फिर और जातियाँ बन गई वैसे तो प्राचीन जातियां ४ ही हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ।

**जातिकृत आग्रह** – अब समय गुजरने के अनुसार कुछ जातियों के व्यक्तियों को अहंकार हो गया । उच्च कुल में हैं, धर्म करने का हमको ही अधिकार है, सो ऐसा हुआ करता होगा । अध्यवसाय बन गया कि वे यह जानने लगे कि मैं अमुक जाति का हूँ । मुझको ही मोक्ष होता है जाति में आग्रह कर बैठे । भले ही यह बात सम्भव है कि जो उच्च कुल में उत्पन्न हो, उच्च जाति में उत्पन्न हो उसका ही परिणाम ऐसा निर्मल होगा कि जो मुक्ति प्राप्त कर सके । लेकिन इतना होने पर भी जो जातियों में आग्रह कर बैठे उसे मोक्ष नहीं होता है । जैसे वज्रवृषभनाराच संहनन के बिना मुक्ति नहीं मिलती, जिसका शरीर इतना दृढ़ होता है कि वज्र की ही हड्डी, वज्र की ही बैठन और वज्र की ही कीलियाँ हों, इतना सुदृढ़ जो हो वही पुरुष मोक्ष जाता है । ठीक है, किन्तु वज्रवृषभनाराच संहननी होकर जो अपने शरीर में आग्रह कर बैठे उसके तो मुक्ति नहीं हो सकती है, यों ही जो उच्च कुल के अभिमानी हैं, आग्रही हैं, इससे ही मुक्ति होती है, ऐसी दृष्टि जो लगाये हैं उनकी कहाँ से मुक्ति होगी, वे तो विकल्पों में ही उलझ गये हैं ।

**संसाररूचि में संसारमुक्ति की असंभवता** – जैसे पूर्व श्लोक में बताया है कि देह के लिङ्ग के, साधुओं के भेष ये मुक्ति के कारण नहीं हैं, देह ही आत्मा का संसार है । इसी प्रकार इस श्लोक में भी यह बताया जा रहा है कि जाति देह के आश्रित है । देह आत्मा का संसार है, जो इस देह में, इस जाति में मुक्ति पाने का आग्रह किए हुये हैं उनको संसार-संकटों से मुक्ति नहीं मिलती है । जातिविषयक आग्रह होना सो तो संसार ही है । संसार की रुचि करके संसार को कैसे छोड़ा जा सकता है । जिसकी जिसमें रुचि है

उसका सम्बन्ध तो दृढ़ बनेगा, छुटकारा कैसे होगा ? जिन्हें संसार-संकटों से छुटकारा पाना है उन हितार्थी जनों को संसारसंकटों से रुचि तो होना ही न चाहिये। जिन्हें देह से मुक्ति चाहिए उन्हें जब देह मात्र का भी विस्मरण हो जाय, अपने इन्द्रिय मन विषयक जो भी साधन हैं उन सबका विस्मरण हो जाय, यों कहो कि सब कुछ परतत्त्वों का विस्मरण हो जाय तो इसके ज्ञानभाव विकसित होता है; निर्विकल्प शुद्ध अंतस्तत्त्व की उपलब्धि होती हैं ।

**उत्प्रेक्षाजाल की अकल्याणरूपता –** भैया ! सर्व ही प्रकार के विकल्पजाल छूटें तो आत्मा का कल्याण है । इस प्रसंग में कुछ श्लोकों से यह बात दिखायी जा रही है कि संसार के कष्टों का मूल कारण उत्प्रेक्षा-जाल है अर्थात् कल्पना-समूह है । कल्पनायें ही तो क्लेश हैं । कल्पनाओं बिना क्लेशों का और क्या रूप हो सकता है । किसी भी प्रकार की कल्पना न हो तो वहाँ कोई क्लेश ही नहीं रह सकता है । अब वह कल्पना किन्हीं के कर्तव्यविषयक है, किन्हीं के अव्रतभावविषयक है और किन्हीं के व्रतभाव विषयक भी कल्पनायें हो जाती हैं, किन्हीं के साधुभेषविषयक कल्पनाएँ हो जाती हैं । मैं अमुक हूँ, बाह्य पदार्थों को अपनाकर उस ही रूप अहं का विश्वासी कोई रहते हैं । इस प्रसंग में यह बताया जा रहा है कि किन्हीं को जातिविषयक कल्पना मोह में हुई ।

**मोह में जाति का व्यामोह –** देखो भैया ! मोह का नाच कि जो जिस गति में उत्पन्न हुआ है वह अपनी जाति को भीतर की श्रद्धा से शेष लोगों से ऊँचा मानता है, यह प्राकृतिक बात हो गयी है । जैसे ब्राह्मण से पूछो तो वह यह विश्वास रखता है कि हम ब्राह्मण ही सर्वोपरि हैं, वैश्यों से पूछो तो वे यही विश्वास रखते हैं कि चतुर और विवेकी उच्च तो हम हैं । इसी प्रकार अन्य से भी पूछो तो यह ही उत्तर मिलता है । और विशेषता में जाओ तो एक धर्म के ही माननहार होने पर भी अग्रवाल, लँबेचू, गोलालारे आदि कितनी ही उपजातियाँ हैं, उनसे पूछो तो जिस जाति में जो पैदा हुए हैं उनको यह विश्वास है कि जाति तो शुद्ध पवित्र एक यह ही मेरी है, ऐसा कुछ प्राकृतिक व्यामोह पड़ा हुआ है । जो जाति में अपना आग्रह बनाए हुये हैं, मैं तो अमुक हूँ उनको बुद्धि में एक अटक आ गयी है इसी कारण वे निष्पक्ष ज्योतिस्वरूप आत्मतत्त्व के दर्शन नहीं कर सकते हैं ।

**निर्विकल्पतत्त्व की दृष्टि द्वारा विकल्प परिहार का अनुरोध –** जो जीव जाति के आग्रह के परित्यागी हैं उनके ही मुक्ति सम्भव है । मुक्ति के मायने हैं निर्विकल्प दशा । निर्विकल्प दशा निर्विकल्प होने का ही तो नाम है निर्विकल्पता की प्राप्ति हम विकल्पों का आग्रह करके करलें तो यह कभी हो नहीं सकता है । विकल्पों के आग्रह में विकल्पों की ही संतान बढ़ेगी और निर्विकल्प अंतस्तत्त्व के आग्रह में निर्विकल्पस्वरूपक अनुभव होगा इस कारण हे मुमुक्षु पुरुषो ! सर्व प्रकार की जाति, लिङ्ग, भेष, व्रत, अव्रत, तपस्या, सर्व ही प्रकार के अहंकाररूप विकल्पों को त्यागकर एक इस निर्विकल्प अंतस्तत्त्व में प्रीति करो । इस शुद्ध चैतन्य प्रभु के अवलम्बन से ही सहज आनन्द का स्वाद आयगा । ये रागादिक भाव तो इस आत्मतत्त्व में हैं ही नहीं; उनकी पकड़ उनका आग्रह तो विह्वलता का ही कारण है । इस कारण

समस्तपरतत्त्वों में आग्रह को त्यागकर एक निराग्रह, निर्विकल्प, शुद्ध आत्मस्वरूप की ही सेवा करो ।

## श्लोक-89

जातिलिङ्गविकल्पेन येषाँ च समयाग्रह: ।

तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मन: ॥८९॥

**देहाग्रह के लिये आगमाग्रह रखनेवालों के भी मुक्ति का अभाव** – जिन जीवों के जाति और भेष के विकल्प के माध्यम से आगम का आग्रह हो गया है वे पुरुष भी आत्मा के परम पद को प्राप्त नहीं कर सकते हैं । आगम में लिखा है कि नग्न भेष से ही मुक्ति होती है, इसीलिए हमने नग्न भेष धारण किया है । इस नग्न भेष से मुक्ति होगी ऐसा जिसका आगम में शपथ खाकर आग्रह है तो, और आगम की शपथ न लेकर भी आग्रह है । यद्यपि शास्त्रों में लिखा है वह ठीक है, नग्न भेष धारण किये बिना वैसी निर्मलता नहीं जगती है । उससे मुक्ति होती है किन्तु इस आग्रह में तो उस तत्त्व के लिये थोड़ा भी नहीं विचारा है ऐसा, किन्तु अपनी हठ को मजबूत बनाने के लिये शास्त्र की आड़ ली है और वह अपने विकल्पों का आग्रह दृढ़ कर रहा है । इस कारण वहाँ भी मोह है, अथवा किसी भी जाति का, किसी भी भेष का संस्कार रखकर और ऐसा भाव रखकर कि हम इस धर्म के मानने वाले हैं, हमको तो मुक्ति होगी । यह सब आग्रह अज्ञान की प्रेरणा का है ।

**जैन मजहब के आग्रह से भी असिद्धि** – हम जैन हैं, जैन धर्म से ही मुक्ति है ऐसा जिनके आग्रह है उनके भी अभी बाह्य में ही बुद्धि अटकी है । जैन धर्म कहाँ है ? शास्त्रों में है, कि पोथियों में है, कि मंदिर में है, कि जिस जैन धर्म से मुक्ति कही गयी है । किस जगह अपनी निगाह रखकर कह रहा है यह कि जैन धर्म से ही मुक्ति होती है ? यह बाहर में निगाह रखकर कह रहा है तो अज्ञान है । आत्मा का जो स्वभाव को पहिचानकर ये रागादिक विषय कषाय आदि शत्रु जीते जाते हैं, जो इनपर विजय प्राप्त कर लेता है उसको विजयी कहते हैं, उसको जिन कह लीजिए । ऐसे विजयी पुरुष ने जो मार्ग बताया है उसे जैन मार्ग कहते हैं । इसको सुनकर भी जिनने बाहरी क्रियावों में, विकल्पों में जिन मार्ग खोजने की बुद्धि लगायी है वे अभी बाहर में भटक रहे हैं । वह जैन धर्म, वह जैन मार्ग अन्यत्र नहीं है । मेरा जैन मार्ग मेरे स्वरूप में है और जिस स्वरूप से है वह स्वरूप मोक्ष का मार्ग है ।

**धर्म के नाते के आग्रह में भी मुक्ति का अभाव** – धर्म का नामकरण करने से महत्त्व घट जाता है मुक्ति का कारण धर्म है उस धर्म का कुछ नाम तो बना दीजिए, बस पक्ष हो जायगा । जैन धर्म कोई मजहब है क्या ? जैसे अन्य जातियाँ, अन्य मजहब अन्य धर्म हैं इस तरह कोई जैन धर्म है क्या ? हाँ अब हो गया एक जैन धर्म । जैसे और धर्म हैं वैसे ही अब जैन धर्म हो गया है । कब हो गया ? जब हम उसके नाम

के पक्ष में पड़ गये । नहीं तो जो आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का तत्त्व है, सहज भाव है उसका आलम्बन है वह धर्म है, पर करें क्या, व्यवहार में कुछ नाम धरना ही पड़ता है । रख लीजिए नाम, पर उस नाम में जो आग्रह रखता है वह अज्ञानी है उसको मुक्ति नहीं है और जिसका नाम रखा गया है, जो उसको तकता है वह ज्ञानी है । जैसे बैंकों में रुपया लोग जमा करते हैं तो खजांची व्यक्ति को कुछ नहीं देखता है वह तो नाम के अक्षरों को देखता है, अक्षर मिल गए तो ठीक है । कोई लोग ऐसे भी होते हैं जो तीन चार तरह से दस्तखत किया करते हैं । तो दस्तखत यदि न मिलेंगे तो रुपये भी न मिलेंगे । वह व्यक्ति को नहीं देखता है, वह तो अक्षरों को देखेगा । उसे तो नाम का आग्रह है, व्यक्ति का आग्रह नहीं है । भले ही ऐसा मेल है कि वैसा ही नाम, वैसे ही दस्तखत वहीं का वहीं कर पाता है, पर उसे व्यक्ति से प्रयोजन नहीं है; नाम से प्रयोजन है । यों ही व्यवहारी जीव ने नाम से प्रयोजन रखा है, जिसके लिए नाम रखा गया है उस पर इस व्यामोही की दृष्टि नहीं है ।

**देहाश्रित धर्म के आग्रह में मुक्ति का अभाव** – धर्म तो वह है कि कोई भी आत्मा उसकी निगाह कर ले तो नियम से संतोष, तृप्ति पायगा । अपना यह दुर्लभ मानवजीवन सफल करेगा; पर ऐसे धर्म की दृष्टि बिरले भाग को प्राप्त होती है । जैसे कोई अपने आपमें यह श्रद्धा रखे कि मैं वैष्णव हूँ, हिन्दू हूँ, ईसाई हूँ, मुसलमान हूँ, किसी प्रकार की आत्मीयता रखे, मायारूप में आग्रह करे तो उसे तत्त्व-मर्म नहीं दिख सकता । यों ही मैं जैन हूँ यों प्रतीति में रहे तो उसे तत्त्व-मर्म के दर्शन नहीं हो सकते क्योंकि इसने उस नाम के माध्यम से अपने स्वभाव को तिरोहित कर दिया है और उस नाम का कुछ आकार-प्रकार सा जानकर बाह्य की और दृष्टि लगा ली है । मैं कुछ नहीं हूँ; जितने भी व्यवहार के रूपक हैं उन सबका निषेध कर दो । अरे ! जब मैं मनुष्य ही नहीं हूँ तो मनुष्य-देह के नाते से जाति, भेष, मजहब, गोष्ठी, वातावरण ये सब भी क्या मेरे हैं ? मैं तो एक जाननहार पदार्थ हूँ, ऐसा भावात्मक जिसको दर्शन है उसे है सत्य का आग्रह । जो लोग जाति का नाम रखकर और प्रमाण देकर कि देखो ना शास्त्र में लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ऐसी उच्च जातियों को मोक्ष होता है, लिखा है ना ठीक है, मैं उच्च जाति का हूँ, मुझे मोक्ष होगा, ऐसा नाम रखकर गर्व करते हैं उन्हें मुक्ति कैसे होगी । अरे ! इस दृष्टि ने तो तुझे संसार में भटका रखा है । इन विकल्पों को न करके विधिपूर्वक अपने मोक्षमार्ग की धुन में लगे रहें तो सफलता मिलेगी ।

**अज्ञानी का देहाग्रह के लिये शास्त्र का दुरुपयोग** – भैया ! यह व्यामोही धर्म के नाम पर करता भी काम है और करके नहीं जानता है तो व्यर्थ का श्रम सहा । जिनका ऐसा आग्रह है कि अमुक जातिवाले, अमुक भेष धारण करें तब ही मुक्ति की प्राप्ति होती है ऐसा शास्त्रों में भी लिखा है । ऐसा शास्त्रों का भी आग्रह करे तो अभी वह नाम तो धर्म रख रहा है पर बाह्य तत्त्वों की ओर विकल्प में फँसा हुआ है, वह भी मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि जाति और लिङ्ग दोनों ही देह के है आश्रित है, यह देह है ना, तब तो जाति का नाम पड़ा । यह देह है ना तब तो कुछ भेष का नाम पड़ा । और देह के आश्रित जाति, लिङ्ग का आग्रह किया और उसके ही समर्थन का लक्ष्य रखकर शास्त्र का नाम लिया, ऐसी स्थिति

में उसने विकल्पों का ही आग्रह किया । वह इस संसार कैसे छूट सकता है ।

**धर्म का स्वयं प्रकाश –** कोई पुरुष कुछ प्रतीति न करे यों कि मैं अमुक वर्ण का हूँ, अमुक मजहब का हूँ, अमुक धर्म का माननेवाला हूँ, अमुक पोजीशन का हूँ, इस देह मात्र का भी विकल्प न करके केवल एक ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको निहारता जाय तो उसे स्वयं ही निरुपम अनुभव होगा जो वास्तविक आनन्द को लिए हुये है । उस अनुभव के बाद उसे स्वयं खबर हो जायगी कि धर्म कहाँ है । इस तरह की ही ज्ञाता-दृष्टारूप परिणति करना सो धर्म है ।

**व्यामोह महासंकट –** भैया ! कितना बड़ा संकट इस जीव पर छाया है कि है तो यह स्वयं सहज ज्ञानानन्द स्वरूप समस्त परपदार्थों से न्यारा, अपने स्वरूपस्तर मात्र, किन्तु मान रखा है इसने अपना यह सब वैभव और ये सब कुटुम्ब और ये मित्र-मंडल कि ये ही मेरे सब कुछ हैं । ऐसी जो इसमें विकल्प-तरंग उठी है यह विकल्प एक बड़ा बोझ है और बड़ी गंदगी है । इसने ही इस जीव को भटका रखा है । यथार्थ श्रद्धान नहीं हो पाता इसी कारण किसी भी क्षण वास्तविक शान्ति का अनुभव नहीं हो पाता । विषयों के भी साधन मिले तो ये मोही उन साधनों में मौज मानते तो हैं, मगर अन्तर में पीड़ित रहा करते हैं । आकुलताओं से भरा हुआ वह मौज है । नाम ही उसका मौज है । मौज में क्या अर्थ भरा है, मो और ओज मिलावो तो मौज बन जाता है जहाँ ओज नहीं रहता है उसे कहते हैं मौज । आत्मा का ओज, आत्मा का बल, ज्ञान, ऐश्वर्य, कांति, आत्मा के ज्ञान, चमक ये सब जहाँ नहीं रहते हैं उसका नाम है मौज ।

**मौज उपनाम बरबादी –** जहाँ यह जीव मौज समझता है वह इसकी बरबादी है । जितना दुःख में यह जीव साहसी बन सकता है उतना यह वैषयिक सुख में साहसी नहीं बन सकता है । जितनी वीरता, गम्भीरता, उदारता, दया दुःख में हुआ करती है उतनी वैषयिक सुख में यह जीव कुछ नहीं कर सकता है । कितनी ही दृष्टियों से देखो तो यह सांसारिक सुख गया बीता है । वस्तुत: सांसारिक सुख और दुःख दोनों में ही समान आकुलताएँ हैं; और इनमें अज्ञानता पड़ी हुई हैं । क्या करे, जब कुबुद्धि आती है, मति उल्टी हो जाती है तो अपनी ही करतूत से अपनी ही बरबादी करता है और खुश होता हुआ अपनी बरबादी करता रहता है ।

**विविक्तता की प्रतीति में मुक्ति की दिशा –** इस देह के विकल्प में, जाति-लिङ्ग के विकल्प में और बाहरी रूप से धर्म-मजहब के आग्रह में भी मुक्ति का मार्ग नहीं है । मुक्ति का मार्ग उसे ही मिलता है जो अपने को इस दुनिया के लिये मरा हुआ सा समझ ले । मुझे दुनिया से कुछ न चाहिए। मैं मैं हूँ, मेरा क्या दुनिया से वास्ता है । अन्य पदार्थ इस मुझमें क्या कर सकते हैं । जब तक इतना विविक्त न हो जाय, अपने को अकेला न अनुभव करले इसको मोक्ष मार्ग नहीं मिल सकता है । अंत में इस जीव को अपना एकत्व दर्शन ही इसका रक्षक है, जितना चाहे भटक लीजिए, जिस किसी भी दिन शान्ति का रास्ता मिलेगा उस सब भटकने का त्याग करके ही मिलेगा ।

**मोहविष का विषय –** अहो ! जब तक मोह का उदय है तब तक यह जीव अपने मोह का विषय तो

बदलता रहता है किन्तु मोह-विष को छोड़ नहीं सकता है । जब छोटा बालक है तो उसके मोह का विषय और कुछ ढंग का है, जब यह कुछ बड़ा तो उसके मोह का विषय फिर स्त्री आदिक बन जाते हैं, जब कुछ और बड़ा हुआ तो मोह का विषय पुत्र, सम्पत्ति, लोक, इज्जत आदिक बन जाते हैं, कदाचित् यह धर्म का पथ भी ग्रहण करे, व्रती बने, उदासीन श्रावक बने, साधु बने तो यदि ऐसी अज्ञान अवस्था है तो मोह तो वहाँ होगा ही । अब यह मोह का विषय कुछ और बना लेता है । मैं सबसे अच्छा काम कर रहा हूँ, मैं व्रती हूँ, इन सबसे न बने ऐसा मैं श्रेष्ठ कार्य कर रहा हूँ । ऐसी भावना रख रहा है, उसके बाह्य की ही वृत्ति है, अपने को उसने किसी अन्य पयार्यरूप मान लिया ।

**अज्ञान प्रभाव की समानता –** भैया ! लोकोक्ति में कहते हैं ना कि 'जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ ।' अथवा 'जैसे उदई वैसे भान, न इनके चुटई न उनके कान ।' चाहे यह घर में रहता हो चाहे घर छोड़कर नग्न साधुभेष रख लिया हो जब तक अंतरंग से मोहविष दूर नहीं होता, इस पर्याय से भी विरक्त केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने प्रभु का दर्शन नहीं होता तब तक दोनों ही अज्ञानी हैं । घर में रह रहा है वह और घर छोड़ कर बड़ी-बड़ी कठिन तपस्या कर कष्ट सह रहा है वह । अन्तर में अज्ञान दोनों जगह है, जहाँ देह का हठ है, देह के आश्रित होने वाले कार्य का हठ है, देहाश्रित विभावों का हठ है वहाँ तो अज्ञान ही है ।

**क्रोधादिक से अवनति का अनुमान –** भैया ! बतावो तो जरा, भला जिसने सर्व पदार्थों से विविक्त चैतन्यमात्र निजतत्त्व का दर्शन किया है उसे क्यों क्रोध आना चाहिये ? है उदय, कषाय की परिणतियाँ होती हैं पर जरा-जरासी बातों पर क्रोध आने लगना, क्रोध बना रहना, रंच-रंच बात पर विकट गुस्सा कर लेना, यह तो कुछ मात्र चारित्रमोह की परिस्थितिवाली बात तो नहीं लगती । क्यों होता है इतना क्रोध साफ उत्तर है – अज्ञान होने से । जब कषायरहित शुद्ध ज्ञानमात्र निजतत्त्व को ही देखा हो तो इस मायामयी दुनिया में मेरा अपमान हुआ, ये लोग क्या समझें, ऐसी दुर्बुद्धि क्यों होती है ? नहीं होना चाहिए ना, पर होती है । तो जैसे गृहस्थ अज्ञानी हैं वैसे ही भेष रख कर भी यह अज्ञानी बना हुआ है । कोई पुरुष धर्म में, त्याग में ऊँचा बढ़ता है तो उसके मान कषाय बढ़ती है या उतना अधिक नम्र हो जाता है । जो धर्म मार्ग में जितना ऊँचा बढ़ता है वह उतना अधिक नम्र हो जायगा या उतना अधिक मान-कषायवाला हो जायगा ? नम्र होना चाहिये । मार्दव धर्म आना चाहिये । किन्तु ज्यों-ज्यों धर्म में ऊँचे बढ़े त्यों-त्यों ऐसी बुद्धि बना लेते हैं कि मैं इतने ऊँचे स्तर का त्यागी हो गया हूँ और ये श्रावकजन हैं । इनमें मुझे इस तरह की बड़ी पोजीशन से रहना चाहिये । अगर कुछ मान कषाय बढ़ती है तो यह धर्म क्या मान बुद्धि का कारण है या मार्दव बुद्धि का कारण है ? होती है कुछ मान की बृद्धि तो स्पष्ट समझ लीजिए ना कि जो अज्ञान गृह, स्वजनों में है वही अज्ञान यह भेष रखकर भी बना हुआ है । यों ही बहुत सी बातें हैं ।

**सबके लिए शान्ति का एक उपाय –** जो लोग धर्म का, लिंग का, भेष का, मजहब का, इनका आग्रह करके अपने आपको तृप्त, तुष्ट, कृतकृत्य मान लेते हैं वे आग्रही पुरुष हैं । इन विकल्पों से भी मुक्ति

नहीं होती है । ऐसे विकल्प करने वाले लोग आत्मा के परमपद को प्राप्त नहीं कर सकते । कोई भी हो, गृहस्थ हो या साधु हो, शान्ति मिलने का ढंग सबको एकसा बताया है । विकल्प छोड़कर निर्विकल्प अंतस्तत्त्व के निकट पहुँचीये, शान्ति मिलेगी । सर्व उपाय करके यही शुद्ध भाव प्राप्त करने योग्य है ।

## श्लोक-90

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवात्तये ।

प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिन: ॥९०॥

**त्याग का प्रयोजन** – पूर्व के तीन-चार श्लोक में यह बताया गया था कि जाति और लिङ्ग, ये देह के आश्रित हैं और देह ही आत्मा का संसार है, तो देह से रुचि करने का अर्थ है संसार से रुचि करना और देहाश्रित जाति में आग्रह करने का अर्थ है संसार से रुचि करना, और भेष में भी कल्याण के आग्रह के करने का नाम भी है संसार में रुचि करना, तब कल्याण के वास्ते यह आवश्यक है कि जाति की, भेष की, और देह की ममता का परित्याग करें और एतदर्थ ही आपमें विराजमान जो परम ब्रह्मस्वरूप है उसकी प्राप्ति करें । इस भाव को लेकर ही विवेकी पुरुष भोगों का परित्याग करते हैं क्योंकि पंच इन्द्रिय के भोगों में जब तक प्रवृत्ति रहती है तब तक इस ब्रह्म चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है । और, इस निज सहज स्वरूप के नाम बिना देह और देहाश्रित भेष एवं जाति की ममता नहीं छूट सकती है । इस संसार की रुचि छोड़ने के लिए यह एक उपाय है कि भोग साधनों का परित्याग कर दे । सो कुछ बिरले पुरुष भोगों से भी हट जाते हैं ।

**बाह्य त्याग कर चुकने पर भी मोह का आक्रमण** – भैया घर छोड़ दिया, धन का त्याग कर दिया, जंगल में रहते है; यों बहुत कुछ त्याग भी कर दिया लेकिन मोह की ऐसी विचित्र लीला है कि ममता का त्याग करने के लिये भोगों का परित्याग किया गया है पर कुछ समय बाद जब मोह अपना बल दिखाता है, दबा हुआ मोह उखड़ता है तो पुन: इसी देह में, जाति में लिङ्ग, भेष में प्रीति करने लगता है । इसमें अज्ञान अवस्थायें घटने वाली प्राकृतिक घटना भी दिखा दी गयी है । कोई पुरुष बड़े अच्छे भाव से सब कुछ परित्याग करके साधुव्रत अंगीकार करता है, पर कुछ दिन साधुव्रत में रहने के बाद अपने देह में, अपने देहाश्रित क्रिया में, अपनी जाति में, भेष में अहंकार हो जाता है । यों यह अज्ञानी देह को लक्ष्य करके यह मैं हूँ और मुझे यों करना चाहिये इस प्रकार उस देह में ही प्रीति करने लगता है जिस देह की ममता के त्याग के लिए भोगों को छोड़ा है ।

**धर्मवेष में ममता का ढंग** – देखो भैया ! धर्मवेष में भी इस अज्ञानी के ममता का ढंग बदल गया है पर

ममता नहीं मिटी । पहिले यह मोह परिवार से करता था, धन-सम्पदा से मोह करता था, अब बाह्य परिग्रहों का त्याग करने के बाद, साधुव्रत अंगीकार करने के बाद इसका मोह अपने भेष में बन गया तब देह को निरखकर साधुता का अहंकार करने में, विशिष्टता का भाव बनाने में कि इन लोगों में विशिष्ट हूँ, यह मोह का प्रसार चलने लगा । इस ही बात पर आचार्यदेव खेद प्रकट करते हैं कि देखो तो मोह की लीला कि जिस ममता के त्याग के लिये सब कुछ परित्याग किया गया है, भोगों के साधन भी छोड़े गए हैं, ठंड-गरमी भी सहन करते हैं और फिर भी उस देह में ही प्रीति को करते हैं । पहिले तो मैं गृहस्थ हूँ, धनिक हूँ, ऐसे भाव करके अच्छे शौक से रहना इस प्रकार की मोह की प्रवृत्ति चलती थी । अब हम साधु हैं, हमको इस तरह से बैठना, यों उठना, देह को निरखकर साधुता का गर्व आना; अन्य पक्षों को देखकर, भक्तों को देखकर ऐसा निर्णय करे कि ठीक है ऐसा ही होना चाहिये, मैं साधु हूँ, अपनी पोजीशन का भाव आना ये सब देह की ही ममता है । अब इस रूपमें देह में प्रीति की जाने लगी है । राग का विषय अब मोह में इस प्रकार बदल गया है, अब धर्म क्षेत्र में, साधुव्रत में आने पर कुछ समय तो ज्ञान की बात सुहाती रही पर जिसके मोह की प्रबलता हो जाती है तो कुछ समय बाद सामायिक में अथवा धार्मिक क्रियाओं में, ज्ञानाभ्यास में रागद्वेष न करके समता परिणाम बनाये रहने की वृत्ति मेंश् इन सब बातों में द्वेष होने लगता है, उपेक्षा होने लगती है । अब समय हो गया है सामायिक का, ध्यान का, करना चाहिये, करना पड़ता है तो प्रीति नहीं रही ।

**भ्रामक मोहलीला –** मोह की लीला यहाँ दिखाई जा रही है कि यह मोह कहाँ तक इस जीव को परेशान किया करता है । इसने भोगों को छोड़ा था तो शरीर से ममता हटाने के लिये ही तो छोड़ा था । साज-श्रृंगार का साधन, अच्छे घर का रहना, अच्छे कपड़े पहिनाना, मनमाना अच्छा बनवाकर खाना ये सारी चीजें छोड़ी गयी थी वे देह के ममता का त्याग करने के लिए ही तो छोड़ी गयी थी । ये संयम इस देह की ममता के त्याग के लिए ही तो है लेकिन यह जीव फिर इसी देह में प्रीति करने लगता है या यों समझिये कि भावुकता जब प्रथम आती है तो बड़े परिषह सहना, बड़े मच्छर काट रहे हैं तो भी हिम्मत बनाकर अडिग बैठे रहना, बड़ी-बड़ी साधनाओं के लिये दिल लगता था, दिल चाहता था, पठन होता था पर उस साधना का नियम लिए कुछ दिन मास गुजर गये तो फिर ढिलाई आने लगती है । यह देह की ममता का ही तो कार्य है । अब दूसरी ओर देखिये, सर्व कुछ इसने त्याग किया तो किस लिए ? कि वीतरागभाव की प्राप्ति हो, उसके लिए ही संयम का आश्रय लिया । अब कुछ समय बाद वीतरागता की जो पद्धति है, स्थितियाँ हैं, विधियाँ हैं उनसे उपेक्षा होने लगती है अथवा द्वेष होने लगता है ।

**आत्मसावधानी की आवश्यकता –** भैया ! ऐसी हालत में मोहभाव पर विजय प्राप्त करने के लिए बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है, और यह सावधानी तब ही बन सकती है जब कि इस साधक की दृष्टि शुद्ध हो ? जैसे नींव पक्की गहरी पुष्ट भर दी जाय तो उस पर मकान कई मंजिल का बना लो तो धोखा नहीं होता है और बिना नीव ही भरे सीधा जमीन पर कुछ उठा दिया जाय तो उसके ढहने का धोखा होता है । ऐसे ही भेदज्ञान का अभ्यास हुए बिना, आत्मतत्त्व का अनुभव किए बिना, मोक्षमार्ग क्या है इसका

विशद प्रतिभास हुए बिना, भावुकता में आकर अथवा किन्हीं स्वार्थभावों को लेकर जो संयम ग्रहण किया जाता है वह कुछ दिनों तक तो बाह्यरूप में ढंग से निभता है, पश्चात फिर वह सब एक बोझसा लगने लगता है और उन वृत्तियों में द्वेष होने लगता है; और जिनकी दृष्टि शुद्ध बन गई हो, जिसकी नींव पक्की हो गयी हो ऐसा अभ्यस्त ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान और वैराग्य के अनुसार वृत्ति रक्खेगा सो उसकी वृत्ति में फिर धोखा नहीं रह सकता है ।

**अज्ञानी और ज्ञानी का परिणमन –** प्रवृत्ति, वृत्ति, परिणमन तो बुद्धि अनुसार ही हो सकेंगे । अज्ञानी पुरुष की परिणति अज्ञानमय होती है और ज्ञानी पुरुष की परिणति ज्ञानमय होती है । स्वर्ण से जो कुछ भी चीज बनाई वह स्वर्णमय बनेगी और लोहे से जो कुछ चीज बनाई वह लोहामय बनेगी । अज्ञानी की चकमहाट, क्रांति, बाह्यवृत्ति धर्ममार्ग में बहुत प्रगतिशील नजर आती है, किन्तु वह सब प्रगति कुछ ही समय बाद इसलिये ठंडी हो जाती है कि ज्ञान की जड़पर उसका यह व्यवहार नहीं है किन्तु राग के कारण अज्ञान की जड़ पर उसकी परिणति हो रही थी, परन्तु ज्ञानी जीव की परिणति धोखे रहित होती है । ज्ञानी पुरुष व्यवहारात्मक बाह्य प्रवर्तन करता उतना है जितना कि उसके पास ज्ञान और वैराग्य है वह जानता है कि किसे दिखाना, काहे की बनावट करना, वह दिखावट, बनावट, सजावट से परे रहता है । इसी कारण यह ज्ञानी जीव किन्हीं भी, परिस्थितियों में आया हुआ हो, उसके नीचे भाव नहीं उत्पन्न होते ।

**अज्ञानी और ज्ञानी की परिणमन पद्धति का उदाहरण पूर्वक समर्थन –** भैया ! जैसे स्वर्ण कितना ही कीचड़ में पड़ा हुआ हो, पर उनमें जंग नहीं चढ़ती और लोहा थोड़ा भी सर्द पाये तो उसमें जंग चढ़ जाती है । ऐसे ही ज्ञानी जीव किसी भी परिस्थिति में हो उसके मलिन परिणाम नहीं होते; और अज्ञानी जीव कभी सामाजिक परिस्थिति के कारण या अन्य कारण कुछ धर्म का नेतृत्व भी कर लेता हो, पर वहाँ उसका आशय सत्य नहीं रहता है । अपनी इस मायामयी दुनिया में इज्जत चाहने के लिए उसकी ये धर्मक्षेत्र की वृत्तियाँ होती है, इस कारण अन्तर में वास्तविक ज्ञान और वैराग्य को अपना उपकारी नहीं मान पाता जिसका अर्थ यह है कि अपकारी मानता है । ऐसा दृष्टिदोष इस अज्ञानी में पड़ा हुआ है । इसी कारण लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि पंडित तो बैरी भी हो तब भी भला है किन्तु मूर्ख मित्र भला नहीं है, क्योंकि मूर्ख अपनी योग्यता माफिक जो वृत्ति बनायेगा, चाहे वह मालिक का मित्र भी हो और भीतर में हित भी चाहता हो, तो भी उसकी परिणति मित्र के अहित में निमित्त पड़ सकती है, जब कि विवेकी, ज्ञानी, पंडित किसी कारणवश उपेक्षा करता हो, जैसे लोक कहते हैं कि बैर रखता हो, या यों कहलो कि वह बैरी भी हो तो भी वह अहित और अपकार नहीं कर सकता क्योंकि, उसका ज्ञान नीचवृत्ति नहीं करने देता है । मूर्ख पुरुष असमय में, अनवसर में मित्र की बढ़ाई कर दे तो वही बढ़ाई मित्र के अपयश के लिए हो सकती है या अन्य कुछ भी हित की चाह से मूर्ख उद्यम करे तो वह अहित का कारण बन सकता है । मूर्खता और पशुता, दोनों में कविजन अन्तर नहीं मानते हैं ।

**मूर्ख मित्र से अमित्र पंडित की श्रेष्ठता –** एक ऐसा कथानक है कि एक पंडित कवि दरिद्रता से परेशान होकर सोचने लगा कि अब कैसे गुजारा हो कुटुम्ब का, सब लोग भूखे पड़े रहते हैं, चलें कहीं चोरी करें । परिस्थिति ने उस कवि को चोरी के लिए प्रेरित कर दिया । सोचा, किसकी चोरी करें, किसी गरीब की चोरी करने से तो उसका बड़ा नुकसान होगा । राजा की करें चोरी और थोड़ी करें जितनी कि जरूरत है, जितने से कुटुम्ब का सेवन हो । राजमहल में किसी प्रकार पहुँच गया, रात्रि का समय था । कुछ आहट मिली तो भींत में छिप गया राजा बड़े कमरे में सो रहा था । राजा के पहरे के लिए एक मूर्ख बंदर जो सिखाया हुआ था तलवार लिए हुए पहरा दे रहा था, चारों तरफ यहाँ-वहाँ देखे और राज की रक्षा करे । एक मक्खी राजा की नाक पर बैठ गयी तो बंदर ने उस मक्खी को उड़ा दिया । पर मक्खी की कुछ आदत ऐसी होती है कि यदि किसी की नाक उसे पसंद आयी तो वह बारबार उसी जगह पर बैठती है । सो कई बार बंदर ने मक्खी को उड़ाया और वह बारबार बैठे । तो बंदर को क्रोध आ गया और सोचा कि जिस नाक पर मक्खी बैठती है उसे उड़ा दिया जाय तो फिर वह मक्खी कहाँ बैठेगी । जो तलवार उठाकर नाक उड़ाने ही वाला था कि कवि पंडित ने देख लिया । वह इस अन्याय को न देख सका, सो लपककर उसने बंदर का हाथ पकड़ लिया ।

**अमित्र विवेकी से अहित की असंभावना –** अब तो बंदर में और उस पंडित में झपटा-झपटी होने लगी । राजा जग गया । तो राजा को उस कवि पंडित ने सब वृत्तान्त बताया और कहा कि आपने अपनी रक्षा के लिये इस मूर्ख बंदर को तैनात किया, यदि मैं हाथ न पकड़ लेता तो आज आपकी मृत्यु हो जाती । राजा ने उसका बड़ा उपकार माना और जानना चाहा व पूछा कि पंडित जी महाराज ! आप यहाँ किस प्रकार पधार गये । आपका पधारना तो हमारे लिए बड़ा हितकारी हुआ । तो पंडित ने बता दिया अपनी सारी बात कि महाराज ! मैं दरिद्रता से पीड़ित था, कल के लिए खाने का सेजा न था सो मैंने आपके यहाँ ही चोरी करने की सोची थी । इसलिए आपके यहाँ ही मैं आवश्यक धन की चोरी करने आ गया पर बंदर के द्वारा किए जाने वाले अन्याय को मैं न देख सका इसी से इस बंदर से झपट हो गयी । इस कथानक से प्रयोजन इतना लेना है कि मूर्ख मित्र भी हो तो भी भला नहीं है और ज्ञानी, पंडित, विवेकी कदाचित् थोड़ा विमुख भी हो जाय तो भी वह भला है ।

**विवेक पोषण का अनुरोध –** जिस पुरुष ने अपना विवेक पुष्ट नहीं बनाया है वह पुरुष धर्म के नाम पर कितना ही श्रम करे, साधन बनाए फिर भी अज्ञानता के कारण वहाँ धर्म नहीं टिक सकता है । यों आचार्यदेव इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि कोई देहममता के त्याग के ध्येय से त्याग भी करले लेकिन मोह की लीला इतनी विचित्र है कि वह फिर देह से प्रीति करने लगता है और जिस आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये त्याग किया है उस ही आत्मकल्याण की वृत्ति से द्वेष करने लगता है । इसलिये बड़ी सावधानी की जरूरत है, और वह सावधानी है अपनी दृष्टि का निर्मल बनाना । अपनी दृष्टि को निर्मल बनाकर ही हम धर्ममार्ग में अबाधित प्रगति कर सकते हैं ।

## श्लोक-91

अनन्तरज्ञ: संधत्ते दृष्टिं पङ्गोर्यथान्धके।

संयोगादृष्टिमङ्ेऽपि संधत्ते तद्वदात्मन: ॥९१॥

**अविवेकी पुरुषों का आरोप –** जो अन्तर नहीं जानता है ऐसा पुरुष जैसे संयोग के कारण लंगड़े की दृष्टि में अंधे को आरोपित करता है वैसे ही आत्मा और देह में अन्तर को न जाननेवाला आत्मा की दृष्टि को शरीर में आरोपित करता है । कोई लंगड़ा और अंधा पुरुष जलते हुए जंगल के बीच हो तो लंगड़ा तो देखता हुआ भी उस आग से नहीं बच सकता और अंधा चलने की सामर्थ्य रखता हुआ भी आग से नहीं बच सकता । यदि लंगड़ा अंधे के कंधे पर बैठ जाय और वह दिशा बताता जाय और अंधा चलता जाय तो दे दोनों बच सकते हैं इस तरह का कहीं अंधे और लंगड़े का व्यापार चल रहा हो तो लोग उसे देखकर जो अंतर नहीं जानते वे सीधा यों समझ बैठते हैं कि देखो यह पुरुष सावधानी से चला जा रहा है । दृष्टि तो है लंगड़े की और अंधे में लोग आरोपित करते हैं, इस ही प्रकार यह जो जंगम जगत् है यहाँ दृष्टि तो है आत्मा की और लोग शरीर में लगाये फिरते हैं ।

**अज्ञानियों के माया में यथार्थता का प्रत्यय –** अज्ञानी प्राणी समझते हैं कि यह शरीर ही देखता जानता है, इतना ही नहीं किन्तु यद्वा-तद्वा क्रियात्मक जानकर, क्या है कुछ निर्णय न करके इस दृश्यमान शरीर को ही लक्ष्य में लेकर अनन्तरज्ञ मूढ़ प्राणी जानता है 'यह देखता है' इस प्रकार का व्यवहार करता है, दूर से अपरिचित आदमी कोई देखे उस अंधे और लंगड़े के साझे के कार्य को तो वह यों ही जानता है कि देखो, यह अंधा कैसा जल्दी सावधानी से साफ-साफ जा रहा है, ऐसे ही जो व्यामोही पुरुष हैं वे ही इस त्रस और स्थावररूप पयार्य को निरखकर 'यों ही सब जन्मते हैं मरते हैं, खाते हैं, वासना बनाया करते हैं' यों समझता है, पर जो अन्तर जाननेवाला ज्ञानी है वह जैसे वहाँ यह स्पष्ट जान रहा है कि देखनेवाला तो यह लंगड़ा है और उस लंगड़े की प्रेरणा को पाकर लंगड़े की बताये हुये दिशा का आश्रय पाकर यह अंधा चला जाता है । इसी तरह इन पर्यायों में भी देखने-जाननेवाला तो जीव है और उस जीव की प्रेरणा पाकर यह शरीर चलता है, बैठता है, अनेक काम करता है ।

**विपर्यासबुद्धि का कारण –** इस श्लोक में यह बात बतायी गयी है कि मोही जीवों को इस शरीर में ज्ञाता दृष्टापन जैसा विपर्यास यों हो जाता है कि यथार्थस्वरूप का बोध न होने से उन्हें भेदविज्ञान नहीं हुआ । इस शरीर का और आत्मा का वर्तमान में भी एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, जहाँ-जहाँ शरीर के अंग हैं उस-उस क्षेत्र में यह आत्मा भी है; एक तो यह कारण हुआ विपर्यास के लिये, दूसरा यह कारण है कि जीव तो अमूर्तिक है दिखने में आने वाला यह शरीर है, शरीर और शरीर की चेष्टाएँ दिख रही हैं इस कारण ऐसे ही सीधा भ्रम हो जाता है कि यह ही सब चलता, उठता, बैठता है, जानता समझता है ।

**अजंगम की जंगमनेयता –** जैसे अजंगम मोटर जंगम के द्वारा चलायी जाती है इसी प्रकार यह अजंगम शरीर आत्मा के द्वारा चलाया जा रहा है । यदि अन्दर से इच्छा का, ज्ञान का कोई प्रभाव न हो तो शरीर चल नहीं सकता, जैसे कि मुर्दा शरीर नहीं चलता है जैसा है तैसा ही अवस्थित रहता है । इन क्रियावों में ऐसा भेद कर सके, कोई डाल सके तो वह सही-सही अन्तर को जाननेवाला है ।

**पदार्थों में स्वकीय भावक्रियात्मकता –** जितने भी पदार्थ हैं, सब में भाववती शक्ति होती है । पदार्थ ६ जाति के हैं जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । छहों प्रकार के पदार्थों में भाववती शक्ति है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ भाववान् है, केवल जीव और पुद्‌गल इन दो पदार्थों में क्रियावती शक्ति भी होती है । तो एक जगह से दूसरी जगह चल सके ऐसी बात एक जीव और पुद्‌गल में मिलेगी । यह शरीर भी चलने में सामर्थ्य रखता है, यद्यपि है अचेतन फिर भी जो स्वयं चलने की सामर्थ्य न रक्खे उसे दूसरा कोई कितनी ही प्रेरणा दे वह चल नहीं सकता । जो स्वयं कुछ सामर्थ्य नहीं रखता उस पर कितने ही निमित्त आ जुटें क्रिया नहीं हो सकती । जिस अनाज में, वनस्पति में पकने की ताकत है वह अग्नि का, गरम जल का संयोग होता है तो पक जाता है, जो चीज नहीं पकने वाली है उसे कितना ही पकाओ, कितना ही आग और पानी का निमित्त जुटाओ पर वह नहीं पक सकती है । ऐसे ही इस पुद्‌गल में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाने की सामर्थ्य है । स्कंधों में कम चलने की सामर्थ्य है और जितना हल्का परमाणु, स्कंध होता जायगा तो उसमें अद्‌भुत गति होती जायेगी । एक परमाणु एक समय में १४ राजू गमन कर सकता है यह पुद्‌गल में स्वयं सामर्थ्य पड़ी हुई है सो इस शरीर-स्कंध में भी चलने की सामर्थ्य है, अब निमित्त जुटा है, जीव का संयोग, जीव की इच्छा जीव का ज्ञान । तो जैसी यह इच्छा और ज्ञान करता है उस प्रकार से इस शरीर का भी चलना-उठना हुआ करता है । भैया ! यद्यपि जीव व पुद्‌गल दोनों में क्रियावती शक्ति है फिर भी वहाँ यह अन्तर डाल सकना कि यह जीव की क्रिया है और यह पुद्‌गल की क्रिया है । यह भेदविज्ञान से ही हो सकता है ।

**मोही जीव की पर में अपनायत –** मोह का एक कारण यह भी है कि स्वरूप का अपरिचय होने से हम यहाँ यह अन्तर नहीं डाल सकते हैं और इसी कारण जो मैं नहीं हूँ उसे मैं मान बैठता हूँ । यह शरीर मैं नहीं हूँ पर अन्तर न मालूम होने से यह मैं हूँ ऐसा इसको विश्वास रहता है । जैसे लोग कहते हैं कि मेरी बात नहीं रही, इनकी बात रह गयी । भला उस बात का स्वरूप तो बतावो जो बात रह गयी । आपकी कल्पना की हठ रह गयी इसी के मायने बात रह गयी । यह मोही जीव इस बात को भी अपनाता है । मेरी बात नहीं रही तो मैं जिन्दा ही कैसे रह सकता हूँ । बात को भी यह मानता है कि यह मैं हूँ । बात मायने रागद्वेष-विकल्प कल्पना; वितर्क विचार । यह भी परमार्थत: मैं नहीं हूँ । जो मैं नहीं हूँ उसे मान लेना यह अन्तरज्ञान का प्रताप है अर्थात् भेदविज्ञान न होने से वह ऐसा समझता है और इसी के कारण सारे क्लेश हैं ।

**तत्त्व ज्ञान और देह का परस्पर विरोध –** जीव को क्लेश क्या है ? यह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, आनन्दमय है, कहाँ इसमें कष्ट पड़ा हुआ है, पर अपने स्वरूप का प्रतिबोध न होने से बाह्य पदार्थों में इसका सुख के

लिये आकर्षण हुआ, वे रहते हैं नहीं अपने मनमाफिक तो हम उनकी विरुद्ध परिणति निरखकर अन्तर में दु:खी रहा करते हैं । यों यह जीव आत्मा की दृष्टि को शरीर में लगाये फिरता है और इसी कारण इसको इस शरीर के साधनों से प्रीति हो गयी है । शरीर के साधन हैं विषय भोग, उनमें इसे अनुराग हो गया है, और जो शरीर के साधन नहीं हैं, उनसे द्वेष हो गया है । शरीर के दुश्मन हैं ज्ञान और वैराग्य । ज्ञान और वैराग्य हों तो शरीर का मूल से निकट भविष्य में नाश हो जाता है । मानते हैं अपने को शरीररूप और इस शरीर का दुश्मन है तत्त्वज्ञान और वैराग्य । सो जो शरीर का व्यामोही है उसे ज्ञान से अरुचि होती है । ज्ञान की उपेक्षा करना, ज्ञान में घबराहट होना यह तो प्राकृतिक ही बात है । अत: जो शरीर के साधन हैं; खाना-पीना और कल्पित सुख के साधन, पंचेन्द्रिय के विषय व मन का विषय उनमें उसकी प्रीति उत्पन्न होती है ।

**मैं मैं का व्यामोह** – जैसे यथार्थ बात से अपरिचित पुरुष लंगड़े की दृष्टि को अंधे में लगाता है ऐसे ही यथार्थ मर्म से अपरिचित पुरुष, व्यामोही जीव इस आत्मा की सारी क्रियावों को शरीर में लगाता है । कोई सभा सोसाइटी में या किसी अन्य अवसर में जब किसी को दिलासा देना होती है तो अपनी छाती ठोककर कहता है कि जब तक मैं हूँ तुम्हें क्या फिकर है । घबराओ नहीं, यह मैं आया । यह किसको मैं बोलता है ? आत्मा यदि कुछ विचारेगा तो आत्मा के लिये विचारेगा । अपनी-अपनी बिरादरी में रहना सभी पसंद करते हैं, पक्षी-पक्षी अपनी बिरादरी के पक्षियों में बैठेंगे । आत्मा का जो कुछ चिंतन होगा वह आत्मा के बारे में होगा सो भी वहाँ यह परआत्मा है और मैं उसका विचार करूँ ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूप में ऐसा विचार रखेगा जिससे स्व और पर का कोई लक्ष्य न हो । यह अज्ञानी जीव छाती ठोककर मैं मैं जिसे कहता है वह कहता है इस दृश्यमान शरीर को लक्ष्य में लेकर और, जिस दूसरों को बचाने का भाव करता है वह दूसरा भी शरीररूप ही इसके लक्ष्य में है क्योंकि शरीर का और जीव का इसने कुछ अन्तर नहीं समझा ।

**ज्ञान ज्ञेय में मिश्रण का अविवेक** – भैया ! पर के आकर्षण में काम तो चूंकि जीव का बिल्कुल बनेगा नहीं और ज्ञेय में है उसका राग, तो ज्ञेय सो ज्ञान, दोनों में मिला कर यह करता है काम किन्तु ज्ञान की दृष्टि को तो बिल्कुल छोड़ देता है यह अज्ञानी जीव और ज्ञेय की दृष्टि ही प्रमुख रखता है । मोही पुरुष किसी बाह्य वस्तु को जान रहा है तो उसमें क्या केवल बाह्य वस्तु की ही कला है ? यह ज्ञान यदि बाह्य ज्ञेय को विषय न करे तो क्या यह जानन हो जायगा । यह मोही का जो जानन बन रहा है वह ज्ञान बन रहा है, वह ज्ञान और ज्ञेय का मिश्रणरूप हो रहा है, क्योंकि उस उपयोग में तो ज्ञेय बसा है और जान रहा है यह उपयोग ही । पर व्यामोही पुरुष उस जानन के सम्बन्ध में साझेदारी तक भी नहीं मान सकता कि इससे मुझ ज्ञान का भी ज्ञान है, और ये ज्ञेय विषय हैं क्योंकि केवल ज्ञेय को प्रमुखता दी है इसने ।

**मिश्रण पर हस्ती का दृष्टान्त** – यह व्यामोही पुरुष एक हस्ती की तरह विवेक नहीं कर पाता । जैसे हाथी के आगे हलुवा और घास दोनों रख दो तो उसकी ऐसी वृत्ति न होगी कि इस समय थोड़ा हलुवा का ही स्वाद ले ले, घास छोड़ दे । वह हलुवा और घास दोनों को एक साथ लपेट कर खा जाता है । जैसे वह

कुछ भी विवेक नहीं कर सकता है यों ही यह मत्त प्राणी ज्ञान और ज्ञेय में विवेक नहीं कर पाता है, मिश्रित स्वाद लिया करता है । यों आत्मा और शरीर के भेद को ठीक-ठीक न समझनेवाला मोही प्राणी इस प्रकार भ्रम का शिकार हो रहा है ।

**भ्रम का विकट संकट** – इस जीव पर भ्रम का विकट संकट है । आपके लिए जैसे हम हैं तैसे ही आपके घर में बसे हुए लोग हैं । कुछ भी तो अन्तर नहीं है । हम आपसे उतने ही भिन्न हैं जितने भिन्न आपके घर के लोग हैं । स्वरूप का किला सबका दृढ़ बना हुआ है । किसी के स्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश नहीं है । मोह कर-करके मोही जन प्राप्त क्या कर लेते हैं ? कुछ विवरण करके तो बतावो । उस कुटुम्ब से क्या सुख पा लेते हैं, क्या शान्ति संतोष अथवा ज्ञान पा लेते हैं ? क्या पाते हैं सो विवरण करके तो दिखावो ? अरे ! जब यह मोही कुटुम्ब से मोह कर सकता है ? आत्मा को विषय बनाकर अपने आपकी दृष्टि भ्रम में पाड़कर मोहरूप परिणामों से रंगा करता है । वह कुटुम्बियों से मोह नहीं करता है । वह तो अपने आपमें ही कल्पना बनाकर गुनगुनाहट करके एक मोह का रंग-रँगीला बनाते जाता है, दूसरों पर क्या कर सकता है ? जब यह दूसरों में मोह कर ही नहीं सकता है, प्रेम ही नहीं कर सकता है तो दूसरों से इसे मिलेगा ही क्या ?

**एक की दूसरे में क्रिया का अभाव** – भैया ! विभाव के कारण यह अपने क्षेत्र में पड़ा-पड़ा दुःखी होता है । कुटुम्बी जन अपने क्षेत्र में पड़े-पड़े दुःखी होते हैं । जैसे दो पुरुष परस्पर में लड़ें तो लड़ने वाले एक दूसरे का क्या बिगाड़ कर लेते हैं ? जैसे कोई लड़ाई ऐसी होती है कि वे अपने ही घर के दरवाजे पर ही खड़े-खड़े क्रोध कर रहे हैं और दोनों ही आपस में बहुत ज्यादा बातों से लड़ रहे हैं पर वे लड़ ही नहीं रहे हैं । वे अपने दरवाजे पर खड़े-खड़े अपने में अपना व्यायाम कर रहे हैं, कसरत कर रहे हैं । दोनों ही इसमें एक दूसरे का क्या कर हैं ? कदाचित् वे दोनों पास में आकर भिड़ जायें तो भिड़ जाने पर भी वे एक दूसरे में कुछ नहीं करते, यह अन्तरज्ञानी पुरुष ही पहचान सकता है । देखने वाले लोग तो प्राय: यह कह देंगे कि वाह ! इसने इसको पीटा है; यह कैसे कहते कि एक ने दूसरे का कुछ नहीं किया । किन्तु भैया ! आत्मस्वरूप जितना है उतने को लक्ष्य में लेकर बतावो तो सही कि यह आत्मा अपनी इच्छा, अपना ज्ञान और अपने प्रदेश का कम्पन इन तीन बातों के सिवाय और कुछ कर भी रहा है क्या ? भले ही इन तीन बातों का निमित्त पाकर यह शरीर चल उठे और इसके उस प्रकार का चलन पाकर दूसरे शरीर में कुछ प्रभाव बनाये लेकिन इस आत्मा ने तो जिस शरीर में यह रुका हुआ है उस शरीर में भी कुछ नहीं किया, दूसरे का तो करेगा ही क्या ? ऐसा मर्म स्वरूपज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं और स्वरूप से अनभिज्ञ जन तो यों ही देखा करते हैं कि यह बोला, यह चला, इसने जाना, उसने समझा । जो दृश्यमान शरीर हैं उन शरीरों को ही लक्ष्य में लेकर ऐसा बखान किया करता है मोही जीव ।

**अज्ञानी और ज्ञानी के विवरण की सन्धि** – यहाँ यह बताया गया है कि यह जीव भ्रम से शरीर को आत्मा मानता है और उससे सम्बन्ध बढ़ाता है और दुःखी रहा करता है । अब इसके विपरीत यह बतायेंगे कि

जिसे भेदविज्ञान हो जाता है वह ज्ञानी पुरुष क्या किया करता है ?

## श्लोक-92

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत् ।

तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मन: ॥९२॥

**ज्ञानी के एक की क्रिया का अन्य में अनारोप –** जिसने भेद देखा है ऐसा पुरुष संयोगवाली बात में भी एक की परिणति दूसरे में नहीं लगता है । अंधे पुरुष के कंधे पर बैठकर उसे दिशा बताता जाय कि अब आगे चलो, बायीं ओर मुड़ो, अब दाहिनी ओर मुड़ो, इस तरह वह अंधा पुरुष अच्छी तरह चला जा रहा है । इस प्रसंग में जिसने भेद देखा है वह जानता है कि लंगड़े का काम देखना है और अंधे का काम पैरों से चलना है, यह अंधा देखकर नहीं चल रहा है । ऐसे ही जिन पुरुषों ने आत्मा और शरीर का भेद जाना है वे पुरुष आत्मा की दृष्टि को, आत्मा के जानन को शरीर में नहीं लगाते हैं । भैया ! जैसे कि अज्ञानी जीव किसी भी पर्यायवाले को निरखकर, पशु–पक्षी, मनुष्य आदिक को देखकर यों कहते हैं कि इसने जाना, इसने देखा, ऐसा ज्ञानी जीव विश्वास नहीं करते हैं । वे जानते हैं कि जानन-देखनहार तो इसमें आत्मा है और ये जड़, अचेतन पौद्गलिक स्कंध हैं, ये जानते-देखते नहीं हैं ।

**संयुक्त दशा में भी ज्ञानी का विवेक –** यहाँ यह प्रसंग चल रहा है कि सांसारिक समस्त स्थितियाँ संयोगरूप हैं । केवल एकत्व में, अकेले द्रव्य में संसार नहीं बनता । यह दृश्य भी नहीं बनता है सो ऐसे संयोगवाली अवस्था में भी समझदार पुरुष भ्रम में नहीं पड़ते हैं । अपने को भी वहाँ प्रत्येक द्रव्य में उन-उनके परिणमनों को समझना है । जैसे उस अंधे और लंगड़े के प्रसंग में अंधे को दृष्टिहीन और लंगड़े को दृष्टिवाला विवेकी पुरुष जानता है इसी प्रकार इस अवस्था में भी यह ज्ञानी पुरुष शरीर को चैतन्यरहित और आत्मा को चैतन्यस्वरूप समझता है । वह शरीर में आत्मा की कल्पना नहीं करता है । यह दृष्टान्त ज्ञानी और अज्ञानी के विवेक को समझाने के लिए कहा गया है ।

**अन्ध-पंगु के दृष्टान्त का अन्य विषय –** इस दृष्टान्त का प्रयोग सम्यक्त्व और चारित्र की सफलता प्रदर्शित करने के लिये भी बताया गया है राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में । जैसे अंधे और लंगड़े ये दोनों अलग-अलग रहें तो न अंधा चल सकता है और न लंगड़ा चल सकता है । ये दोनों मिल जाय तो काम बन जाता है । जलते हुए जंगल में अंधा और लंगड़ा ये दोनों फँस गए और वे जुदे-जुदे रहें तो वे दोनों ही मर जायेंगे । यदि वे मित्रता कर लें, पंगु अंधे के कंधे पर बैठकर दिशा बताये और वह अंधा चलता

जाय तो दोनों बच जाते हैं इसी तरह ज्ञान और चारित्र ये अलग-अलग पड़े रहें, कोई पुरुष ज्ञान-ज्ञान ही कहता रहे, चारित्र न पाले और कोई पुरुष मात्र बाह्य चारित्र ही पालता रहे, छुवाछूत, नहाना-धोना, दया, सेवा सब कुछ तपस्यायें भी करता रहे किन्तु वस्तुस्वरूप का ज्ञान न करे तो इससे उन दोनों की सिद्धि नहीं है । जैसे अंधे और लंगड़े मिल जाय तो सिद्धि होती है ऐसे ही ज्ञान और चारित्र एक जगह मिल जायें अर्थात् पुरुष ज्ञानी बने और चारित्रवान बने तो उसे मोक्षमार्ग में सफलता मिलेगी । कितना सुन्दर दृष्टान्त है एक रत्नत्रय की एकता को बताने के लिये, किन्तु उस दृष्टान्त का यहाँ प्रयोग तीसरे चौथे पुरुषों की दृष्टि बताने के लिये किया गया है ।

**अज्ञानी और ज्ञानी की मूल समझ –** अपरिचित मूर्खजन लंगड़े की दृष्टि को अंधे में जोड़ देते हैं और विवेकीजन लंगड़े की दृष्टि को लंगड़े में ही समझते हैं, ऐसे ही मोहीजन आत्मा की कला को, ज्ञानदर्शन को जानने-देखने को शरीर में जोड़ते-फिरते हैं, आत्मा की तो उन्हें कुछ खबर ही नहीं है कि कोई विविक्त चैतन्यतत्त्व है किन्तु ज्ञानी जीव सभी स्थितियों में आत्मा की दृष्टि को आत्मा में जोड़ते हैं, शरीर में नहीं जोड़ते हैं । इस तरह यहाँ तक भ्राँति की और भ्राँतिरहित स्थितियों की बात कही गयी है स्वतंत्र-स्वतंत्ररूप अब यह बतलायेंगे कि बहिरात्मा पुरुष को कौन सी अवस्थाएँ तो भ्रमरूप लगती हैं और ज्ञानी पुरुष को कौन सी स्थितियाँ भ्रमरूप लगती हैं ।

## श्लोक-93

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनां ।

विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थात्मदर्शिन: ॥९३॥

**अनात्मदर्शी और आत्मदर्शी भ्रमपरिज्ञान का विषय –** जो आत्मदर्शी नहीं हैं, अनात्मतत्त्व में ही यह मैं आत्मा हूँ, ऐसा ही जिन्हें परिचय है उनके लिये तो सोते हुए और पागलों जैसी अवस्था ही भ्रमरूप मालूम पड़ती है, किन्तु जो आत्मदर्शी पुरुष हैं, जिन्होंने आत्मानुभव कर लिया है ऐसे ज्ञानी पुरुषों को इस बहिरात्मा के मोह से घिरे हुए, दोषों से भरे हुए जीव की सारी ही अवस्थाएँ भ्रमरूप मालूम होती हैं, अज्ञानी जन तो सोते हुए को देखकर यों कहेंगे कि यह बेहोश है या किसी पागल दिमाग वाले को देखकर यह कहेंगे कि यह बेहोश है, किन्तु ज्ञानी यहाँ जगते हुए को भी यह कहेगा कि यह बेहोश है ।

**भ्रमपरिचय –** लोग अपने कल्पित स्वार्थ की पूर्ति के लिये कितने मायाचार करते हैं, कितना पागलपन, कितना अन्याय करते हैं, कितना धोखा देते हैं । विश्वासघात करते हैं, और ऐसा करते हुए वे अपने को बड़ा चतुर समझते हैं, मैंने बड़ी चतुराई की जो मैंने इतना दूसरे का लूट लिया । इसे वह चतुराई समझता है और ऐसा जानता है कि मुझ जैसा होशियार, सावधान, होशवाला दूसरा कोई नहीं है । हर

ज्ञानी पुरुष उसे बेहोश देख रहा है, यों देख रहा कि इस मूढ़ पुरुष को अपने आपका कुछ होश नहीं है । इस बेहोशी में ही यह अपनी चतुराई खेल रहा है । मूर्ख पुरुष तो केवल सोते हुए में ही बेहोशी देखते हैं या कुछ दिमाग जिसे कहते हैं क्रेक हो गया पागल उसे बेहोश कहते हैं किन्तु इस ज्ञानी को तो संसार की सर्व अवस्थाएँ ही बेहोशरूप दिखती हैं । व्यामोही प्राणी बड़ा श्रम कर रहा है, व्यायाम कर रहा है, बड़ी ताकत लगा रहा है, कुटुम्बियों के बीच में अपनी बड़ी कीर्ति वर्त रहा है और यों करके मानता है कि मैं बड़ा चतुर हूँ । अरे ! चतुर तो वह है जो आत्मा को समझने का काम कर ले ।

**चतुराई में ठगाई –** भैया ! इन बाहरी पदार्थों को अधिक जोड़ लिया तो इतने से इसका कौन सा पूरा पड़ता है ? जो अभ्यास करता है वह पुरुष भले ही यह समझे कि हम इतने लाभ का काम कर रहे हैं किन्तु उससे जो पाप का बंध होता है, अशुभ परिणाम बनता है उसका उदय आने पर भविष्य में वह खतरे में पड़ेगा, दुगर्ति को प्राप्त होगा । दो प्रकार के पुरुष होते हैं – एक ठगने वाले और एक ठगे जाने वाले । नुकसान में कौन रहा ? जरा इसका निर्णय करो । ठगने वाला नुकसान में रहा या जो ठगा गया वह नुकसान में रहा ? लोग तो यों कहेंगे कि जो ठगा गया वह नुकसान में रहा, इतना उसका पैसा कम हो गया और जिसने ठगा है वह लाभ में रहा, किन्तु बात है बिल्कुल उल्टी । ठगनेवाला नुकसान में है और जो ठगा गया है वह नुकसान में नहीं है । उस ठगने वाले ने ठगकर कौन सा लाभ पाया ? उसे तो वह लाभ मिलता ही, अच्छे परिणामों से रहता तो वह मिलता, ठगने का काम किया तो भी मिला । जो उसकी कलुषताएँ हुईं, जो आशय में मलिनता हुई, पाप-बंध हुआ, विकार बढ़ा उसके कारण वर्तमान में भी उसकी बुद्धि बिगड़ जाने से किसी प्रकार के नुकसान में वह आ गया और न आ सका मान लो निकट भविष्य में नुकसान में तो बाद में नुकसान आये बिना बचता नहीं है ।

**परिणाम का परिणाम –** कोई पुरुष गुप्त पाप कर रहा हो, उसके किए जाने वाले पाप कार्यों को कोई जान नहीं रहा है लेकिन बाद में वह याद रखता है कि मैंने इतना समय अपने जीवन का व्यर्थ ही बिताया और इस कारण यह फल भोगना पड़ा । बेकार नहीं जाता है अच्छा परिणाम करना और बुरा परिणाम करना । चाहे फल देर में मिले पर अच्छे और बुरे दोनों परिणामों का फल अवश्य मिलता है ।

**देर है अन्धेर नहीं –** एक पुरुष पुत्र रहित था । लोगों ने उसे कुछ भरमा दिया कि तुम किसी दूसरे लड़के की अमुक देवी पर बलि चढ़ा दो तो पुत्र हो जावेगा । उसने ऐसा ही किया और पूर्वकृत भाग्य की बात है कि उसके संतान भी हुई, धन भी बढ़ा, जमींदारी हो गयी, सब कुछ हो गया, लेकिन कुछ ही समय बाद क्रमश: वह सब कुछ मिटने लगा । जमींदारी भी मिटी, महल भी सब बिक गये, और और भी सब कुछ बिक गया, स्त्री तक भी गुजर गयी, अकेला रह गया । उसका दिमाग अब भ्रान्त हो गया तो वह जगह-जगह चिल्लाता फिरे—देर है अंधेर नहीं । लोग पागल समझकर उपेक्षा कर जाय, किन्तु एक जज ने यह सोचा कि यह एक ही बात कहता है पागल तो नहीं मालूम होता । कोई बात है । उसने उसे कुछ दिन अपने घर रक्खा और धीरे-धीरे से पूछा तो उसने सब वृत्तान्त सुनाया । जो पाप किया उसके फल में देर तो है किन्तु अंधेर नहीं है कि उसका फल प्राप्त न हो । यों ही जानो कि जो लोग दूसरों पर अन्याय

करते हैं फल में उन्हें क्लेश ही मिलता है । भैय ! चतुराई पायी कोई कला पायी चला पाया, विश्वासघात किया तो इन परिणामों के फल में चाहे देर हो जाय पर अंधेर नहीं है ।

**अज्ञान चेष्टा का प्रत्यय –** कोई पुरुष अपयश के काम करे किन्तु करे गुप्त ही गुप्त, तो करता रहे गुप्त ही गुप्त पर उसके ऐसे कर्मों का उदय अवश्य आयगा कि अपयश होता ही रहेगा । कोई मनुष्य यश का काम करता है, करता है वह गुप्त होकर । भले ही वह गुप्त ही गुप्त यश का काम करे, न प्रकट होने दे अपने गुण, किन्तु ऐसा समय अवश्य आयगा कि उसका यश प्रकट होगा । तो ज्ञानी पुरुष को ये शरीर अवस्थाएँ सब भ्रमरूप मालूम होती हैं । और की तो बात क्या, ज्ञानी पुरुष धर्म के सब काम कर रहा है, पूजा में खड़ा हुआ पूजा कर रहा है, अब जाप में बैठा है, सामायिक कर रहा है; सब कुछ करता है पर चित्त में यह बात बसी हुई है कि यह सब हम अज्ञान में कर रहे हैं । ये मेरी सारी क्रियाएँ अज्ञानमय क्रियाएँ हैं । उसे सम्यक्त्व जगा है तो सम्यक्त्व जगने पर ही तो यों सोच रहा है वह कि ये क्रियाएँ क्या ज्ञानतत्त्व की क्रियाएँ हैं ? ये करनी पड़ती हैं । विषय कषायों का उपद्रव है, कल्पनावों का यत्र-तत्र लगने का उपद्रव है, उनसे कुछ निकास पाने के लिए ये सब क्रियाएँ की तो जा रही हैं, पर ये अज्ञान चेष्टाएँ हो रही हैं ।

**ज्ञानचेष्टा –** भैया ! ज्ञानभरी चेष्टाएँ तो वे हैं जो सब ज्ञानियों के होती हों और ज्ञानियों में जो सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी है सिद्धभगवान्, अरहंतदेव उनकी भी जो चेष्टाएँ होती हों वे हैं ज्ञानमय चेष्टाएँ । ये सब उन्मत्त चेष्टाएँ हैं, कषायों की जितनी भी क्रियाएँ हैं वे सब उन्माद हैं । यों ज्ञानी को सारी अवस्थाएँ भ्रमरूप ही दिख रही हैं, तभी तो धर्मकार्य करते हुए भी ज्ञानी कर तो रहा है हाथ पैर से ये धर्म विषयक क्रियाएँ, किन्तु चित्त है उसका एक शुद्धज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, मैं इन क्रियावोंवाला नहीं हूँ । उसे ये सारी स्थितियाँ भ्रमरूप दिखती हैं । आप सुन रहे हैं यह भी क्या उन्मत्त चेष्टा नहीं है ? यह पागलों की चेष्टा है । हम बोल रहे हैं यह भी उन्मत्त चेष्टा है । क्या यह सुनते रहना आत्मा का धर्म है ? आत्मा का धर्म शुद्ध ज्ञान का अनुभव करते रहना है । जहाँ कोई विकल्प नहीं, भेद नहीं वह ज्ञानप्रकाश ही आत्मा का धर्म है । क्या इस सुनने में ज्ञान का अनुभव हो रहा है ? भले ही कुछ यह मन में निर्विकल्प तत्त्व की ओर झाँक रहा हो, पर अनुभव तो नहीं है । ऐसा ही बोलने में पदवर्ण सहित बोले जाने में क्या ज्ञान का अनुभव है ? भले ही बोलते समय यह मन उस निर्विकल्प ज्ञानतत्त्व की ओर झाँक रहा हो, पर ज्ञान का अनुभव तो नहीं है । जहाँ ज्ञान का अनुभव नहीं है वे समस्त क्रियाएँ उन्मत्त चेष्टाएँ कही गयी हैं ।

**मोही की घातकता –** मोह केवल दर्शन का घातक ही नहीं होता है, चारित्र का भी घातक होता है अर्थात् दर्शन को भी घातता है । और चारित्र को भी घातता है जब तक दर्शन और चारित्र का विघात है तब तक यह जीव निर्दोष नहीं है । अपने को सदा ऐसा मानते तो रहना चाहिये कि मैं घर में रहता हूँ तो दुकान करता हूँ; या घर वालों से बड़ी न्याय नीति से बोलता हूँ तो समाज में बड़ी सुन्दर चाल चलन से रहता हूँ तो, और की तो कहानी ही क्या कहें, हम अपने लिये काय क्लेश, पूजन, सामायिक, भक्ति, सेवा-सुश्रुषा

जितनी भी तन, मन, वचन की चेष्टाएँ करते हैं वे सब हमारी उन्मत्त चेष्टाएँ हैं, यथार्थ काम नहीं हैं, लेकिन बड़े अयथार्थ ज्ञान से बचने के लिए कम अयथार्थ काम किया जाय तो भी लोग भला समझते हैं ।

**आन्तरिक रुचि** – जैसे किसी अपराध में किसी व्यापारी को एक हजार रुपया दंड किया गया हो तो व्यापारी यह कोशिश करता है कि मेरा दण्ड कम हो जाय, और किन्हीं कोशिश के बाद हजार की जगह पर ५० ही रुपया दंड रह गया तो वह कुछ चैन मानता है, खुश होता है, पर उसको भीतर से पूछो क्या वह ५० रुपये भी देने की रुचि रखता है ? अरे ! वह ५० रुपये भी नहीं देना चाहता, किन्तु उस हजार के नुकसान से बचा है, उसके मुकाबले में इसे अच्छा मानता है । इसी तरह अव्रत आदिक अशुभ भावों की अपेक्षा व्रत आदिक शुभ भावों को भला मानता है पर वस्तुत: इन दोनों भावों में यह ज्ञानी पुरुष रुचि नहीं रखता है । वह तो शुद्ध ज्ञान के अनुभव में ही प्रसन्न रहा करता है ।

**आत्मदर्शियों के भ्रान्त दशाओं का अभाव** – जो आत्मदर्शी पुरुष हैं उनको सोई हुई अथवा पागलों जैसी अवस्थाएँ भी भ्रमरूप नहीं होती हैं, याने आत्मदर्शी पुरुष ऐसे आत्मज्ञान का अभ्यासी है कि उसका चित्त आत्मरस से भीगा रहता है और वह अपनी स्वरूपप्रतीति से कभी च्युत नहीं होता है । कदाचित् इन्द्रिय की शिथिलता आ जाय या रोग आदि की वजह से कभी मूर्छा आ जाय तो भी उसका आत्मसंस्कार नहीं छूटता है । जैसे मरण के समय में यदि बोल थक जाय या बेहोशी हो जाय तो वहाँ मरण बिगड़ जाता है क्या ? मरण का बिगड़ना संस्कार से सम्बंध रखता है । यदि कोई ज्ञानी पुरुष है, तत्त्वज्ञान का दृढ़तर अभ्यासी है, जिसने आत्मस्वरूप का बार-बार अवलोकन किया है, ज्ञान और वैराग्य जिसका प्रबल है उस पुरुष के कभी रोग में बेहोशी हो जाय तो अन्तर में ज्ञानधारा ही चलती है । बेहोशी हो गयी तो लोगों को अब दिखता नहीं है कि यह कार्य कर रहा है, न हाथ चलाता है, न आँख चलाता, न बोलता है, न इशारा कर सकता है, यों ही पड़ा हुआ सोई हुयी जैसी हालत में है । उस समय भीतर में मन कार्य कर रहा है ।

**सुप्त अवस्था में मनोवृत्ति** – जैसे सोती हुयी हालत में जब स्वप्न न आ रहा हो उस समय क्या मन कुछ काम नहीं करता ? मन भी काम न करे तो पूजा से बिढ़या तो सोना हुआ ये तप, व्रत, संयम पालते हैं उससे बिढ़या सोना हुआ, निद्रा लेना हुआ । लोग तो सोचेंगे कि खूब सोयें, पड़े रहें तो उससे कर्म नहीं बँधेगे, लेकिन ऐसा नहीं है, सोती हुयी अवस्था में जागती हुयी अवस्था से भी अधिक कर्म बँधते हैं । वहाँ भी मन भीतर कार्य करता है । उस सोये हुए पुरुष को ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि मैं कुछ सोच रहा हूँ या कुछ कर रहा हूँ । लोग जागने पर इतना तो कह देते हैं कि हम आज बड़े मौज में सोये । अरे ! बड़े मौज में सोने का अनुभव उसको प्रतिसेकेण्ड रहा आया है ।

**बेहोशी में अन्त: संस्कार** – तो जैसे सोयी हुयी हालत में अपने आपको भी अपनी खबर नहीं है तो भी गुप्तरूप से मन कार्य कर रहा है । यों ही रोग की वजह से बेहोशी हो जाय तो भी पुरुष का ज्ञान अंतरंग में काम कर रहा है, उसका आत्मानुभवरूप संस्कार नहीं छूटता । ज्ञानी बेहोश भी हो जाय तो मरण नहीं बिगड़ता और अज्ञानी पुरुष होश में भी मरण करे; जैसे टी.बी. के मरीज बेहोश होकर नहीं

मरते हैं, वे बोलते-बोलते मरते हैं । जैसे उनके बोल में ज्यों ही थोड़ी मंदी आयी बस उसके बाद बोलना बंद हुआ कि प्राणांत हो गया । ऐसे भी मरण हुआ करते हैं तों यों मरने से कहीं अज्ञानी को लाभ नहीं हो गया, और बेहोश हो जाने पर भी ज्ञानी पुरुष का कहीं नुकसान नहीं हो गया । ये तो शरीर के धर्म हैं । होश रहे शरीर के तो क्या, बेहोश रहे तो क्या ? जैसा ज्ञानसंस्कार या अज्ञानसंस्कार होगा उसके अनुसार उसे लाभ अलाभ होगा ।

**बेहोशी की कल्पना का व्यर्थ भय –** बहुत से लोग तो दूसरों का मरण देखकर जिस मरण में प्राय: मरने से पहिले बेहोशी हो ही जाती है कोई ही बिरला होश में बोलता हुआ मरता है । किसी को घंटा भर पहिले किसी को २ घंटा पहिले बेहोशी होती है उसको देखकर देखनेवाले घबरा जाते हैं, हाय ! ऐसी ही हम पर बीतेगी । वे बड़े चिंतित हो जाते हैं । मरण बिगड़ जायगा । अरे ! मरण बिगड़ता है अज्ञान से और सुधरता है ज्ञान से । जिसने अपने जीवनभर ज्ञान की साधना की हो वह पुरुष बेहोश होकर भी अंतरंग में ज्ञानसंस्कार बनाए रहता है ।

**अज्ञानी का होश भी बेहोशी –** भैया ! जो आत्मदर्शी पुरुष हैं उनको सोई हुई अवस्था में भी भ्रमरूप नहीं है और उनको बेहोशी की अवस्था भ्रमरूप नहीं है, किन्तु जो अज्ञानी जीव हैं, बहिरात्मा हैं उनको सोई हुई अवस्था तो भ्रमरूप है ही; बेहोश, उन्मत्त दशा भी भ्रमरूप है किन्तु जगती हुई हालत में भी जो कुछ यह करता है वह सब भ्रमरूप है । तथा जो बालपन, जवानी आदिक जितनी भी अवस्थाएँरूप यह अपने को अनुभवता है वह सब भ्रमरूप है । कोई ऐसा सोच रहा हो कि मैं इतने वैभव का धनी हूँ, इतने मकान हैं, ऐसा लेने-देन है, देखा ठीक हिसाब है कि नहीं, गल्ती निकाल दी, यह रोकड़ नहीं मिली, इसमें २ पैसे का फर्क है, अच्छा फिर देख डालेंगे । हाँ, हुई न बड़ी चतुराई, हुआ न बड़ा होश कि अच्छा हिसाब कर लिया, अच्छी व्यवस्था बनालो । अरे ! नहीं अज्ञानदशा में ये सब, जिन्हें यह होश कहता है, वह सब भ्रम है । एक परमार्थस्वरूप आत्मतत्त्व के दर्शन में भ्रम नहीं है । उसके लिये सारी अवस्थाओं में कोई भ्रम नहीं होता है । अब ज्ञानदृष्टिहीन शास्त्रवेदियों की बात देखिये । लोक में कुछ लोग ऐसा विवेक किया करते हैं कि जिसने अधिक पढ़ लिया वह ज्ञानी पुरुष है; जिसको बहुत सी भाषाएँ याद हैं, जो नीति का, धर्मशास्त्र का बड़ा व्याख्यान देता है, वह ज्ञानी पुरुष है, वह तो मुक्त हो जायगा ऐसी लोगों की धारणा बनी रहती है । उसके सम्बन्ध में समाधान देते हुए पूज्यपाद आचार्य कहते हैं –

## श्लोक-94

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।

देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥

**अज्ञानी का जागरण भी अश्रेयस्कर** – जिसने सब शास्त्रों को जान लिया हो ऐसा भी पुरुष यदि शरीर में आत्म्बुद्धि रखने वाला है, इस शरीर को लक्ष्य में रखकर कि यह ही मैं हूँ ऐसा जिसका विश्वास बना हो वह आँखों से जागता हुआ भी हो और लोक-व्यवस्था में बड़ी सावधानी बनाये रखता हो अथवा कुछ धर्म के नाम पर व्यवहार भी धार्मिक करता हो, किन्तु जिसकी मूल में ही भूल है, अर्थात् जिसने शरीर को ही आत्मा माना है वह जागता हुआ भी मुक्त नहीं होता ।

**भावहीन वचनों से अलाभ** – कोई पढ़ी-लिखी वेश्या हो और वह व्याख्यान दे सदाचार का, शील का, ब्रह्मचर्य का तो क्या दे नहीं सकती है, किन्तु अंतरंग में तो उसके कुछ असर है नहीं । कोई व्यसनी पुरुष, स्त्रीगामी पुरुष ब्रह्मचर्य का व्याख्यान दे तो क्या बढ़िया व्याख्यान दे नहीं सकता है ? दे सकता है किन्तु अंतरंग में उसके कुछ उतरा नहीं; तो लोकज्ञान भाषाज्ञान ये सब अल्प चीजें हैं और अन्तर में विश्वास होना आत्महित की लिप्सा होना यह अलग बात है । अज्ञानी पुरुष वही कहलाता है, जिसको शुद्ध आत्मीय आनन्द का अनुभव नहीं होता है । जिसको पर-पदार्थों से उदासीनता नहीं आयी है, जो निज को निज, पर को पर नहीं जान सकता है ऐसा अज्ञानी पुरुष लोकभाषा के नाम से ज्ञानी भी हो जाय तो भी वह मोक्ष का मार्ग नहीं पा सकता है ।

**अन्तरात्मा का संवरभाव** – भैया ! ज्ञानी पुरुष जिसने आत्मस्वरूप को देह से न्यारा अनुभव कर लिया है ऐसा अन्तरात्मा पुरुष सोया हुआ भी हो तो भी इसके ४१ प्रकृतियों का संवर बना रहता है । चौथे गुणस्थानवाले जीव भी ४१ प्रकृतियों का संवर किये हुए हैं । व्रत न हो सोया हो, किन्हीं भोगों में भी लग रहा हो तो भी सम्यग्दृष्टि पुरुष ४१ प्रकृतियों का संवर बनाए रहता है । तो उन ४१ से तो छूटा हुआ ही है ना, जिनका बंध नहीं हो रहा है । तो ज्ञानी पुरुष सोया हुआ भी मुक्त है, किन्तु सर्व शास्त्रों को भी कोई जान ले और हर काम में बड़ा जागरूक रहे, सावधान रहे, लोकव्यवहार की क्रियावों में अवसर पर क्या करना चाहिए इसमें भी बड़ा चतुर रहे तो भी जिसे भेदविज्ञान नहीं है, जिसको देह से भिन्न आत्मा को परखने की रुचि नहीं है उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है । भैया ! छूटना जिसको है उसके प्रति यह विश्वास ही न हो कि यह छूटे हुए स्वभाववाला है तो छूटने का मार्ग कैसे प्राप्त कर सकता है ।

**तोता रटंत** – जो पर्यायबुद्धिवाले जीव हैं, देह में आत्मा का विश्वास करने वाले हैं उनका शास्त्रज्ञान तोते की रटन की तरह है । जैसे पिंजड़े में पला हुआ तोता उसे जो सिखावो वही रटता रहता है । तोते को सिखा दो कि अय तोते ! नलिनी पर नहीं बैठना, नलिनी पर बैठ भी जाना तो दाने चुगने के लिए न झुकना, दाने चुगने को झुक भी जाना तो उलट न जाना, उलट भी जाना तो छोड़कर उड़ जाना । इतना सिखा दिया । है तो यह जरा लम्बा वाक्य, मगर इतना भी सीख सकता है । सीख गया । वह तोता उतने शब्द बोल लेता है । सीख गया है ना, सो दिनभर में दस बीस बार बोलता है । अब बड़ा प्यारा हो गया वह तोता । मालिक को बड़ा विश्वास हो गया । जब विश्वास हो जाता है तो पिंजड़े का दरवाजा बंद किया न किया, ज्यादा ध्यान नहीं रखा जाता । तो एक बार पिंजड़े का दरवाजा खोलकर चला गया,

मौका पाकर तोता उड़ गया, और उड़कर वह वही पहुँचा जहाँ पर नलिनी लटक रही थी ।

**करतूत का फल** – देखो भैया, तोता उस नलिनी पर बैठ गया और वही पाठ रट रहा है – ऐ तोते ! नलिनी पर नहीं बैठना, बैठ भी जाना तो दाने न चुगना, दाने चुगना तो उलट न जाना, उलट भी जाना तो छोड़कर उड़ जाना । इतना पाठ वह पढ़ता जा रहा है । दाने की ओर वह झुक गया, नलिनी पर भी औंधा लटक गया । अब औंधा लटकने के बाद तोते को यह डर है कि कहीं छोड़ देने से हम गिरकर न मर जायें सो उसे अपनी उड़ने की कला पर विश्वास ही उस समय नहीं रहता कि इसे छोड़ दें तो उड़कर भाग सकते हैं । लटक गया औंधा, पाठ पड़ रहा है उतना ही और डर रहा है, शिकारी आया और उसने तोते को पकड़ लिया ।

**भावभीना स्तवन** – भैया, तोता रटंत विद्या से कहीं विपदा छूट नहीं सकती है । हमारी यह पूजा, विनती, पाठ आदि तोता रटंत से हो गए हैं । विनती शुरू से पढ़ते हैं, पता ही नहीं पड़ता कि कब क्या पड़ा और कितनी देर में खतम हो गया । कभी भाव भी लगा लें, पर जिसके धर्म की रुचि नहीं है और ईमानदारी के साथ प्रभुभक्ति में नहीं आया है, लोकरीति से अथवा घर की खुशियाली के लिये आया है, उसकी वह प्रभुभक्ति तो नहीं कहलाती । अरे ! उससे तो अच्छा है कि तुम बोल-चाल में भगवान के गुण गावो । किसी के बनाए हुए भजन का सहारा लेकर जरा अपनी बोलचाल में बोल लो । भगवान तुम अनन्तज्ञानी हो, निर्दोष हो, इस शरीर की आफत से भी छूट गए हो, हम कैसी आफत में पड़े हैं । हम पर मोह लगा है तुम्हारे मोह नहीं है, जो मन आए सो अपनी बोलचाल भगवान से बोल लो । ऐसा बोलने में तुम्हारा दिल मदद देगा । जो मन में होगा सो कहोगे । वह हार्दिक स्तुति है । जो पद्यमय विनती है पूजा है, जैसी रोज-रोज कहते रहे वैसे ही आज भी रटी हुयी कहते जाते हैं, मोह में चित्त रहता है सो क्या कहा, पता भी नहीं पड़ता । इसके मायने यह नहीं है कि उन स्तुतियों को न पढ़े, न पढ़ें तो करें क्या ? उनको पढ़कर भी किसी दिन मन लगता है पर इन रचनाओं के पढ़ने में आध घंटा समय लगाते हो तो एक मिनट भी अपनी बोलचाल में भगवान से बोल लो । यह काम रोज-रोज का रख लो तो उसकी अपेक्षा इसका प्रभाव विशेष बनेगा ।

**भावभासी की विशद वृत्ति** – जैसे तोते ने रट किया, पर भावभासना नहीं हुई । मैं क्या कह रहा हूँ, इसका क्या मतलब है यह उस तोते को जैसे नहीं मालूम है ऐसे ही शास्त्र-ज्ञान कर लेने पर भी भावभासना यदि नहीं आती है तो उससे आत्महित की साधना नहीं होती है । आज आपने कोई नया नौकर रखा हो, उससे कह दिया कि वहाँ जाना है यों कहकर आवो । अब उसे कुछ पता नहीं है घटनावों का कि क्या मामला है, इससे मालिक का क्या सम्बन्ध है, उसे तो जितनी बात कह दी उतनी ही बात पकड़ ली और उससे कहने के लिए पहुँच गया । उसे भावभासना नहीं है कि मामला क्या है और एक पुराना कोई नौकर हो उसे भावभासना है, जरा-सा इशारा कर दिया कि वहाँ चले जावो, यह बात कह आवो । लो, थोड़े से ही वह सारी बात समझ गया । अब कोई प्रश्न भी करेगा तो वह उत्तर दे करके आयगा । भावभासना और ऊपरी ज्ञान इन दोनों में बड़ा अन्तर होता है । तो उस तोते को वह सब

रटते हुए भी भावभासना नहीं है । ऐसे ही जिस शास्त्रज्ञानी विद्वान् पंडित को भावभासना नहीं है वह बोलकर भी आत्महित का साधन नहीं कर सकता ।

**भावरहित की विपरीत वृत्ति –** भैया ! अक्षरविज्ञों का भावभासना तो रहो, ऐसा शास्त्रज्ञानी पुरुष बोलने के बाद जब मित्रों में बैठा है तो अपने मुँह से खुलासा कहता है कि वह तो शास्त्र की बात थी, वहाँ तो व्याख्यान में यों कहना पड़ता है । रात्रि के समय उनका व्याख्यान रख दीजिए कि रात्रि-भोजन-त्याग पर बोलना है, रात्रि-भोजन-त्याग पर खूब बढ़िया बोल देंगे । इससे स्वास्थ्य का नुकसान है, धर्म का नुकसान है, परेशानी है, सब बोल देंगे । शास्त्र समाप्त हुआ कि थोड़ी ही देर में पेड़ा ले आइए, दूध ले आइए । अरे अब क्या हो गया । अरे ! वह तो एक ज्ञान था, उसकी कला दिखा दी है कि लोग सुनकर दहल जायें कि रात्रिभोजन बुरी चीज है ।

**भावरहित की विपरीत वृत्ति पर एक दृष्टान्त –** इस पर एक कथानक भी प्रसिद्ध है – कहते हैं ना कि भाई जी के भटा । एक भाई जी थे एक दिन उनका शास्त्र-व्याख्यान हुआ । तो व्याख्यान में भटा अभक्ष्य है इस विषय पर बोला। क्या दोष हैं ? इसमें ऐसी पर्त होती हैं कि दो-दो अंगुल की छेद भी कर दो तो भी कीड़ा किसी जगह छुपा रह सकता है। भटे में सबसे बड़ा ऐब यह है, और भी दोष बताया, और कहा कि इसे न खाना चाहिए । इस भटे का तो जिन्दगी भर के लिए त्याग करना चाहिये । उस भाई साहब को उन भाई साहब की स्त्री भी सुन रही थी । सो उसने सोचा कि जल्दी घर पहुँचें, उन भटों को फेंक दें नहीं तो भाई जी आयेंगे तो नाराज होंगे क्योंकि इन्होंने आज भटा त्याग की बात कही है । वह झट घर पहुंची और उन भटों को उठाकर नाली में डाल दिया। भाई जी आये तो स्त्री ने सब खाना तो परोसा, पर भटा न परोसा। तो भाई जी कहते हैं कि आज भटा नहीं बनाया है क्या ? स्त्री बोली कि भटा बनाया तो था पर आपका उपदेश सुना तो यहाँ आकर भटों को उस नाली में फेंक दिया । तो भाई जी बोले अरे ! वह तो दूसरों के लिए बोला था, अपने लिए थोड़े ही बोला था, जा ऊपर-ऊपर के भटे उठा ला । तो शास्त्रज्ञान से कर्ममुक्ति नहीं होती है । भावभासना हो तो मुक्ति होती है । यों यह अज्ञानी पुरुष बड़े-बड़े शास्त्रों का ज्ञान रखता हो, बड़ा सावधान रहता हो लेकिन तत्त्वभासना नहीं होने से कर्मों से वह मुक्त नहीं होता है ।

## श्लोक-95

यत्रैवाहितधी: पुंस: श्रद्धा तत्रैव जायते ।

यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥

**चित्त की लीनता का स्थान** – जिस किसी भी विषय में पुरुष की बुद्धि लग जाती है उस ही विषय में उसको श्रद्धा हुआ करती है और जिस ही विषय में उसे श्रद्धा हो, रुचि हो उस ही विषय में मन लीन हो जाता है । जिस किसी को यह आवश्यक हो कि मेरा मन आत्मस्वरूप के ध्यान में लीन हो तो उसे आवश्यक है कि पहिले आत्मस्वरूप में उपादेयता के रूप में श्रद्धान हो । इस आत्मस्वरूप में उपादेयता के रूप में श्रद्धान हो, इसके लिए आवश्यक है कि उस आत्मस्वरूप की ओर ही अपनी बुद्धि लगाते हैं, जिस ओर बुद्धि लगाते रहेंगे उस ओर ही श्रद्धा बनेगी उसमें ही चित्त लीन होगा ।

**ज्ञानी की चित्तवृत्ति** – ज्ञानी पुरुष अपने जीवनभर इस ज्ञानसाधना में ही उपयोग लगाये रहता है तो उसका चित्त उस ओर ही लीन होता है उस ज्ञानी पुरुष के निद्रा भी आये तो निद्रा में भी पहिले जिस ओर उसका चित्त लगा है उसकी वह बात स्वप्न में दिखती है । सोती हुई अवस्था में भी वह काम करेगा; जैसे काम का इस मन से पहिले संस्कार बनाया था । ऐसे ही कदाचित् कोई बेहोशी हो जाय उसमें बड़बड़ाने लगते हैं, बकवाद करते हैं, तो जिस ओर पहिले चित्त लगा हुआ होगा बकवाद में भी वही बात निकलेगी । कभी कोई विद्वान् पुरुष पागल बन जाय तो वह पागलपन में भी विद्यावाली बात बकता रहेगा । यहाँ चित्त की लीनता की उपपत्ति बतायी है कि चित्त कैसे कहाँ लीन होता है । इस श्लोक से हमें यह शिक्षा लेनी है कि हम परमार्थतत्त्व की और अपनी बुद्धि लगाया करें । ज्ञान करें तो वस्तुस्वरूप की, चर्चा करें तो वस्तुस्वरूप की, रुचि बनाएँ तो वस्तुस्वरूप की अर्थात् स्वयं यह आत्मा सहज जिस रूप का है उस ही में दृष्टि दें । ऐसा अभ्यास बना रहेगा तो उसकी ही रुचि बढ़ती जायगी, उसकी ही श्रद्धा होती जायगी और फिर वह चित्त वहाँ ही लीन रहा करेगा ।

**चित्त न लगाने का यत्न** – जहाँ चित्त अपना न लगाना हो उसका भी यह ही उपाय है कि उस जाति की श्रद्धा न बन सके इसका उपाय है कि उस कुतत्त्व के ढिग न जायें, वहाँ बुद्धि न लगायें । यदि विषयों में अपना मन नहीं लगाना है तो यह श्रद्धा होना आवश्यक है कि ये विषय दुःखदायी हैं, असार हैं, विनाशीक हैं, इनसे कोई लाभ नहीं है, इनसे केवल जीव की बरबादी है । तो उसकी असारताविषयक श्रद्धा होनी चाहिए । भोगों की असारता की श्रद्धा तब हो सकती है जब यथार्थज्ञान में हम अपना चित्त लगायें । जिस विषय में किसी मनुष्य की बुद्धि लग जाती है अर्थात् जहाँ खूब सावधानी से बुद्धि प्रवर्तती है उसी में आसक्ति बढ़ती जाती है । किसी भी अन्य व्यक्ति में स्नेहभरी बात छेड़ना, यह भविष्यकाल में बड़े संकट की बात बन जाती है क्योंकि स्नेहभरी बात का उत्तर भी स्नेह में मिला तो अब चित्त वहाँ ही लगने लगा । जब चित्त वहाँ लग गया तो श्रद्धा भी उसी की हुई और जिसमें श्रद्धा हो वहाँ ही चित्त लीन हो जाता है ।

**ज्ञानी के सुषुप्ति में भी मोक्षमार्ग** – इसमें पूर्व के श्लोक में यह बताया गया था कि ज्ञानी पुरुष सोया हुआ भी संवरवाली प्रकृतियों से युक्त है अथवा विभ्रम के साधनों से मुक्त है । ज्ञानी पुरुष कभी रोगवश बेहोश भी हो जायेगा तो उस बेहोशी की हालत में भी वह कर्मों से मुक्त होता है । ऐसा क्यों होता है ? उसके समाधान में यह श्लोक कहा जा रहा है । चूंकि उसने अपने जीवनभर तत्त्वज्ञान में ही बुद्धि लगाई और

इस ही कारण उसे तत्त्वविषयक श्रद्धा हुई, आत्मस्वरूप विषयक श्रद्धा हुई अतएव चित्त वहाँ ही बना रहता था तो अब सोई हुई हालत में भी वहीं चित्त रहता है । जिसने कितनी ही बार आत्मा का अनुभव किया हो तो सोई हुई हालत में भी, स्वप्न जैसी स्थिति में भी, सही आत्मानुभव की बात की जाती है । जो बात जगत में की जा सकती हैं वे सब बातें स्वप्न में भी की जा सकती हैं । फर्क इतना है कि स्वप्न में केवल भाव ही भाव हैं, बाहरी काम नहीं है, लेकिन आत्मानुभव जैसी चीज तो जगते में भी बाहर का काम नहीं हो तब जो सोये में आनन्द पाया और जो जगते में आनन्द पाया, वह एक समान हुआ ।

**हितकारी अर्जन** – ज्ञान का अर्जन बहुत बड़ा काम है, यह जगे में भी आनन्द दे, सोये में भी आनन्द दे । और यह विषयसाधनों के संचय का काम तो क्लेशकारी है । विषयों के साधन जोड़ने की अथवा धनसंचय की जो इच्छा होती है उससे पहिले भी इसमें आकुलता मची थी । जब धन संचय कर रहा है तब भी आकुलता मच रही है, धन आ गया तो उसकी रक्षा करने की आकुलता मच रही है, और कदाचित् धन नष्ट हो जाय तो उसके विनाशपर भी आकुलता मचती है और वह पुरुष सो भी जाय तो स्वप्न भी ऐसा बुरा आता है कि इसे आकुलता मचती है ।

**स्वप्न का भुगतान** – एक देहाती व्यापारी किसी समय सोया हुआ था । उसे स्वप्न आया कि मैं एक कस्बे के बाजार में पहुँच गया, देखा कि एक रुपये की मन-भर ज्वार बिक रही है और उसके गाँव में २) की मन-भर ज्वार बिकती थी । सोचा कि १ रु. की मन भर ज्वार खरीदलें सो गाँव में ले जाकर बेच देने पर 1 रु. भी मिल जायगा और २० सेर ज्वार खाने को हो जायगी । सो स्वप्न में उसने १ मन ज्वार खरीद ली । अब एक मन ज्वार का बोझ वह अपने सिर पर लादकर चला । स्वप्न की बात कही जा रही है । स्वप्न में ही चलते चलते उसकी गर्दन दु:खने लग गयी, अब बड़ा कष्ट हो रहा है सो उसने आधी ज्वार निकाल कर फेंक दी पर जो एक बार दर्द हो जाता है वह दर्द फिर थोड़ा भी बोझ हो तो भी बढ़ता जाता है । अब भी उसकी गर्दन का दु:खना बंद न हुआ । धीरे-धीरे उसने सारी ज्वार फेंक दी फिर भी गर्दन का दु:खना न मिटा । अब तो उसकी नींद खुल गयी, नींद खुलने पर भी गर्दन दुःख रही थी, सोचा कि अभी कोई ज्वार का दाना तो सिर में नहीं अटका है । तो जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा संस्कार बनता है और उस संस्कार के माफिक चित्त उसी जगह लीन रहता है ।

**स्वप्न की कसौटी** – स्वप्न एक बड़ी ईमानदार कसौटी है । कैसा इसका भाव बन रहा है रात-दिन,, उसकी परख स्वप्न करा देता है । स्वप्न खोटी बात का देखें, खोटे आचरण का देखें तो उस जाति का उसका संस्कार बना रहता है, इसका परिचायक है । कोई स्वप्न ऐसा भी आ जाता कि जिसके माफिक कुछ भाव बनाया था ऐसा भी न विदित हो और स्वप्न आ जाता । तो समझिये उस जाति की भी कोई वासना बनी रही है, क्योंकि संस्कार वैसे हुए बिना वैसा स्वप्न ही न आयगा । इस ज्ञानी पुरुष को आत्मबोध का बड़ा संस्कार होता है, इससे सोई हुई अवस्था में भी ये सावधान है, होशवाला है ।

**बेहोशी में होश** – ज्ञानी संत बेहोश की अवस्था में भी होशवाला है, सावधान है । कैसा अंदरूनी कार्य है संस्कार का कि ज्ञानी पुरुष रोगवश बेहोश पड़ा हो अथवा करने के समय उसकी सारी इन्द्रियाँ बेहोश हो

गयी हों, शिथिल हो गयी हों, उल्टी साँस ली जा रही हो, मरने का समय निकट आ रहा हो तो लोगों को यों दिख रहा है कि यह बड़ा बेहोश है, कई दिन से इसे होश नहीं है, लेकिन ज्ञानी का संस्कार ऐसा होता है कि कई दिन की बेहोशी में भी उसके निरन्तर अंतरङ्ग में ज्ञानप्रकाश बना रहता है । जिस ओर बुद्धि लगी हो उस ओर ही प्रीति और रुचि होती है, जहाँ रुचि होती हो, वैसा ही चित्त बना रहता है । ज्ञानी पुरुष का चित्त ज्ञान की ओर रहा आये तो उसकी यह लीनता सोई हुई और बेहोशी जैसी अवस्था में विषयों की ओर नहीं आने देती और आत्मस्वरूप की ओर प्रवृत्ति रहती है । कदाचित् वह स्वप्न देखेगा तो ज्ञान के, धर्म के, भक्ति के देखेगा और कभी बकवाद करने जैसी बेहोशी हो जाय तो ज्ञान की ही बातों का बकवाद निकालेगा ।

**ध्येय का निर्णय और अमल** – भैया ! आत्महित के लिए प्रयत्नपूर्वक यह काम करें कि ज्ञान का अर्जन हो, ज्ञान की ओर बुद्धि लगे, अच्छा परिणाम रहा करे । यह बात तभी बन सकती है जब धन की असारता समझ में आये । गृहस्थावस्था में आवश्यकता के लिए कुछ धन की आवश्यकता होती है, पर इतना आवश्यक नहीं है कि अपने धर्म को भूल जायें और धन-वैभव के ही स्वप्न देखें । उन्हें बड़ा धोखा होगा जो धन की रुचि में धर्म को भूल जायें और धन की ओर ही लगे रहें । उनकी तो दुर्गति ही होगी । उसको न वर्तमान में चैन है न भविष्य में चैन होगी । आवश्यक है कुछ समागम गृहस्थावस्था में, ठीक है, जान लिया । सहज योग से आवश्यकता की पूर्ति प्राय: मनुष्य को हो जाती है पर जीवन इसलिए समझें कि हमें धर्म करके, ज्ञानदृष्टि करके आत्मा का बल बढ़ाना है, बाहरी कुछ काम नहीं करना है ।

**व्यवहारविवेक** – भैया ! यदि जाती हुई हालत में भी धन कम हो रहा है अथवा त्याग किए जा रहे हैं तो उसका क्या खेद करना, मरने पर तो सब छूट ही जायगा । मरने पर सब चीजें छूट जायेंगी उसकी अपेक्षा भी क्या कुछ घाटा है जिंदगी में यदि कुछ धन कम हो गया तो । धन को तो धूल की तरह समझना । ये धन-वैभव सोना-चाँदी अपने से निकलकर कोई मेरे आत्मा में परिणति नहीं ला देते । रही यह बात कि उसके बिना काम तो नहीं सरता । लोक में इज्जत, प्रतिष्ठा, यश सब कुछ धन के ही कारण तो होते हैं । यदि पुण्योदय से अपने आप सहज आये तो आने दो, लेकिन विकल्प मचाकर श्रम करके कुछ मायामयों में मायामय इज्जत पाई तो ऐसी इज्जत का क्या करें, इज्जत के करने वाले भी मरेंगे । आखिर ये मोही-मलिन पुरुष ही तो अपने स्वार्थ के लिए इज्जत करने की बात कहा करते हैं । कुछ भी यहाँ सारतत्त्व नहीं है । जगत् में यदि कुछ नाम भी हो गया तो मरने के बाद यहाँ का नाम क्या काम देगा ? जिस भव में गया, वहाँ जो समागम हुआ, जो साधन मिले उसके अनुसार उसका बर्ताव चलेगा या पूर्वभव के लोगों के गुणगान का कुछ असर उस पर आयगा ? और फिर जितना इस मायामय जगत की ओर अपनी इच्छा बढ़ायेगा उससे अपना बड़प्पन अपनी इज्जत चाहेगा ऐसी विभाव परिणति करने का फल तो तत्काल उतना ही बड़ी आकुलता ही है ।

**ज्ञान की डोर** – भैया ! असार हैं ये सब मायामय समागम । कहाँ चित्त लगाना । श्रद्धा जिसकी निर्मल है, वह अवश्य पार होगा संसार से । पूजा में कहते हैं ना 'कीजै शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना सरधा धरे ।

'द्यानत सरधावान अजर अमर पद भोगवे' । श्रद्धा तो है किसी को, किन्तु श्रद्धा माफिक कुछ नहीं कर पा रहा है, पर दृष्टि है करने की सो वह आगे अवश्य सफल होगा । श्रद्धा तो है, आन तो है उसकी । एक सेठ का लड़का था, वह हो गया वेश्यागामी । सेठजी के एक मित्र ने कहा सेठजी, तुम्हारा लड़का तो व्यसनी हो गया है, वेश्या के यहाँ रोज जाता है और अब बिगड़ गया है, सुधर नहीं सकता है । सेठ बोला कि हमें विश्वास नहीं होता कि मेरा लड़का बिगड़ा है । वह बोला कि हम तुम्हें वेश्या के घर में खड़ा हुआ दिखा देंगे । वह ले गया सेठ को वेश्या के घर उसे दिखाने के लिए । सेठ ने देख लिया उस लड़के को वेश्या के घर में, उसी प्रसङ्ग में लड़के ने भी अपने पिता को देख लिया, किन्तु उस लड़के ने झट अपनी आँखों के आगे अंगुली लगा ली, लो इतना भर काम किया । अब जब पिता भी घर आ गया तो पुत्र दूसरे कमरे में बैठ गया ।

**आन तक सुधार –** अब वह सेठका मित्र कहता है सेठ से कि मैं कहता था ना, कि तुम्हारा लड़का बिगड़ गया है । तो सेठ कहता है कि मेरा लड़का अभी नहीं बिगड़ा। सेठ की इतनी बात सुनकर पुत्र के हृदय पर बड़ा असर पड़ा और उसने वह पाप छोड़ दिया । सेठ के मित्र ने पूछा कि सेठजी ! मैंने तुम्हारे लड़के को वेश्या के घर में तुम्हें दिखा भी दिया फिर भी कहते हो कि मेरा लड़का अभी नहीं बिगड़ा । सेठ बोला—हाँ, ठीक है, तुमने दिखा तो दिया वेश्या के घर खड़ा हुआ, किन्तु उसने मुझे देखकर अपनी आँखों के आगे अंगुली लगा ली, तो आन तो है उसे हमारी । जब तक के अन्दर आन है तब तक वह सुधर सकता है, जब आन ही न रहे तो सुधरेगा ही क्या ?

**श्रद्धा का एक रूपक –** आन क्या है ? कोई एक श्रद्धान का ही तो रूपक है आन । आन जिसमें फिर उसके कुछ नहीं रहता । कुछ लोग बीड़ी पीते हैं तो अपने से बड़े को देखकर बीड़ी छिपा लेते हैं, छुपाकर पी लेते हैं वे सबके सामने नहीं पीते हैं तो उनके अन्दर कुछ आन तो है । जब वे आन छोड़ देंगे तो फिर सबके सामने पीने लगेंगे । जो सबके सामने बीड़ी पीने लगे तो समझलो कि उसका बीड़ी-पीना छूटना कठिन हो गया है, क्योंकि अब उसकी आन निकल गई, अब उसका हृदय स्वच्छन्द हो गया । आन हो तब तक उसका सुधार समझलो । जिस ओर बुद्धि लगती, उस ओर रुचि लगती, उस ओर मन आया और वैसा ही भला-बुरा प्रभाव इस पुरुष पर होता है । इससे हम अच्छे विचारों में रहें और बुरे विचारों से दूर हटें !

## श्लोक-96

यत्रानाहितधी: पुंस: श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।

यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लय: ॥९६॥

**बुद्धि के अनवधेय में श्रद्धा का अभाव** – जिस विषय में जीव की बुद्धि नहीं लगी होती है उससे श्रद्धा, रुचि हट जाती है और जिससे श्रद्धा, रुचि हट जाती है फिर चित्त की लीनता उस विषय में नहीं हो सकती है । ज्ञानी पुरुषों का चित्त विषयों में क्यों नहीं लगता है ? उसका कारण यह है कि उनकी विषयों में श्रद्धा ही नहीं है, रुचि ही नहीं है । यह बात जीव के स्वयं ही होती है । जैसे कोई देहाती पुरुष मामूली भोजन में ही रुचि करता हो क्योंकि उसे उससे और मिष्ट भोजन मिला ही नहीं । उसे जब मिष्ट भोजन मिल जाता है और उसके स्वाद का अनुभव होता है तो उसकी रुचि फिर साधारण भोजन की ओर नहीं रहती है । ऐसे ही भोगरुचिक पुरुष सुभवितव्यता से ज्ञानानुभव की ओर आ जाय तो उनसे भी भोग में रुचि नहीं रहती, वह उनसे दूर ही रहने में कल्याण मानता है ।

**आनन्दप्राप्ति की कला** – आनन्द दो प्रकार के हैं-एक तो कल्पित आनन्द विषय-वासना सम्बंधी और एक आत्मीय सहज आनन्द । लोक में बहुत से बड़े-बड़े आदमी हैं, जिनके ठाठ हैं, इज्जत है, हजारों-लाखों पुरुष जिनका स्वागत करते हैं, किन्तु वे कैसे हैं ? स्वयं अपने आपके लिये शांत हैं या नहीं ? निर्दोष हैं, कैसे हैं ? यह उनकी बात उनके ही पास है । लोक की इज्जत से, लोक के बढ़ावा से शान्ति और आनन्द नहीं मिलता है । यह तो स्वयं की ज्ञानकला पर निर्भर है ।

**विषयसुख की पराधीनता और शान्तता** – विषयों के आनन्द में ज्ञानी की रुचि नहीं है, वह जानता है कि ये सुख तो पराधीन हैं । कर्मों का उदय अनुकूल हो तो सुख मिलता है उसमें यों प्रधानतया प्रथम तो कर्मों की अधीनअधीनता है । और, फिर उस सुख की आश्रयभूत जब सामग्री मिलती है तो सुख मिलता है, सो दूसरी अधीनता विषयों की है । फिर मन के अनुकूल उनका परिणमन हो तो सुख मिले । कितनी ही अधीनताएं उनमें बसी हुई है, उनका संयोग इस भोक्ता के अधीनअधीन नहीं है वे जब तक हैं, हैं; नहीं हैं, नहीं हैं । पराधीनता का यही अर्थ होता है । खैर, ये विषय पराधीन सही, पर सुख तो मिल जाता है, उसे क्यों छोड़ा जाय ऐसी शंका नहीं करना चाहिये । उसमें दूसरा ऐब यह है कि वह नष्ट हो जाता है । कौन-सा सांसारिक सुख ऐसा है जो सदा रहता हो ? बड़े-बड़े पुरुषों के भी तो सुबह कुछ, शाम को कुछ, दोपहर को कुछ । दोपहर से पहिले श्री राम को राजगद्दी हो रही थी, उसी समय दोपहर होते ही वन को जा रहे हैं । कितनी दोनों विरुद्ध बातें हैं, कहाँ राज्याभिषेक और कहाँ वनगमन । सच पूछो तो बड़े पुरुष, बड़े धर्मात्माजन ही वे होते हैं जो इतने बलशाली होते हैं कि संसार के समस्त संकट, उपसर्ग सहन करने की शक्ति दृढ़ कर लेते हैं ।

**विषयसुखों में दु:खों की अन्तरिमता** – अहो ! संसार में किसे चैन है ? अविवेकी जीव हो, वह अविवेक से दुःखी है और विवेकी जीव हुआ तो अपना न्याय रखने के लिये उसे अनेक संकट भोगने पड़ते हैं । यों उन पर क्लेश आते हैं । सांसारिक सुख विनाश करके सहित है । इन सुखों के बीच-बीच दुःख आते रहते हैं । कौन सा सुख ऐसा है कि जो लगातार बना रहता हो अथवा आधा घंटा भी रहता हो । कोई सुख ऐसा न मिलेगा । बीच-बीच में दुःख की लहर आती रहती है । निरन्तर सुखी कोई नहीं रह पाता है । धनी होने के सुख हैं तो उसके बीच की विपत्तियां देख लो । धन की रक्षा की चिंता, बीच में कहीं कुछ

विरुद्ध खबर आ जाय, टोटा मालूम पड़े, धन के टैक्स लग गए, कितने ही उसमें मुकदमें भी चलते हैं, और अब शहरी सम्पत्ति का जो कुछ नियम बनने वाला है; इतने से ज्यादा कोई धन नहीं रख सकता, इसको सुनकर तो कितने लोगों के चित्त अधीर हो उठते होंगे । धन-वैभव का सुख दु:खों से भरा हुआ है । परिवार का सुख ले लो, परिवार अच्छा है, आज्ञाकारी है तो सुख और आज्ञाकारी नहीं है तो दु:ख । राग में सिवाय क्लेशों के और कुछ नहीं है । इज्जत के सुख देख लो, इज्जतवाला पद-पद पर अपनी कल्पनाएँ करके अपनी तौहीनी समझकर दु:खी हो जाया करता है । अब इतनी इज्जत मिली तो इतनी और मिलना चाहिये, न मिल सके मनचाही इज्जत तो दु:ख बना हुआ ही है अथवा मिली हुई इज्जत में भी तो बड़े धोखे हैं । कोई भी लौकिक सुख ऐसा नहीं है जिसके बाद दु:ख न आता हो । वैषयिक सुख भी दु:ख से भरे हुए हैं ।

**ज्ञानी की विषयसुखों में अनास्था –** ज्ञानी पुरुष का विषय सुखों में आदर नहीं है । ये विषय -सुख स्वयं पापरूप हैं, इनसे पाप ही बंधता है । कहाँ तो यह जीव सुखस्वभावी, अपने ही सुखस्वभाव में ठहरता तो आनन्दमय था, किन्तु अपने स्वरूप से चिगकर बर्हिमुख उपयोग हुआ सो इसमें कल्पना-जाल बढ़ गया, दु:ख हो गया । पाप के कारणभूत हैं ये सब विषयसुख । इस ज्ञानी पुरुष को विषयसुखों में श्रद्धा नहीं होती है, लीनता नहीं होती है, फिर इनमें चित्त कहाँ लीन होवे ।

**ध्येयनिर्णय की प्रथम आवश्यकता –** भैया ! अपने ध्येय का निर्णय कर लेना प्रथम काम है । बहुत से लोग पूजन करते चले आ रहे हैं और भी व्रत, तप, संयम, शोध, छुवाछूत, शुद्ध भोजन सब कुछ करते चले आ रहे हैं पर ध्येय का जिन्हें पता नहीं है कि ऐसा शुद्ध चैतन्यस्वभाव है, ज्ञानप्रकाश है, सामान्यस्वरूप है इस रूप ही वर्तना, ज्ञाता-दृष्टा रहना यह है सर्व धर्मों का निचोड़ । यही करना चाहिये, इसी के लिए सब कुछ किया जाता है ऐसा जिन्हें पता नहीं है वे सब नये के नये से लग रहे हैं, ४०-५० वर्ष के त्यागी पुजारी आदि हो गए फिर भी कुछ उन्नति नहीं हुई, वैसे के वैसे ही हैं जैसे पहले थे ।

**उन्नति के लक्षण –** भैया ! उन्नति किसे कहते हैं ? क्रोध में कमी आये, घमंड में कमी हो, मायाचार में कमी हो, या लोभ-तृष्णा में कमी हो, उसका नाम उन्नति है । कषायरहित पवित्र वीतराग प्रभु की भक्ति में लग रहे हैं पर अपने कषाय में फर्क रंच नहीं आया तो उन्नति किसे कहा जाय । कर्म तो कषायों से बँधते है । इस जीव ने पर्यायदृष्टि की अज्ञानता की और फिर उस अज्ञान का पोषण कलापूर्वक भी करने लगा । यह कला नहीं तो फिर क्या है कि ऐसे ढंग से बोलना, यों भेष रखना, ऐसे बैठना—ये कलाएँ आ गयीं दुनिया को बताने के लिये जिससे दुनिया यह जाने कि यह साहब ऊँचे धर्मात्मा , बहुत बड़े साधुसंत हैं, और अन्तर में जितनी बात वर्षों पहिले थी उससे भी बिगड़ी हुई बात अब है, तो बतावो क्या उन्नति हुई ? उन्नति नाम किसका है सो बताओ ।

**उन्नति का मूल मूल का आलम्बन –** भैया ! कैसे उन्नति हो, पहिले इसका निर्णय कर लो मुझे निष्कषाय होना है, शुद्ध ज्ञानमात्र होना है, इस जड़ शरीर का आग्रह नहीं करना है, पहिले ध्येय का निर्णय तो कर लीजिये । मुझे किसी-पर में मुग्ध नहीं होना है, मेरा कहीं कोई नहीं है; नाती, पुत्र, मित्र कोई भी मेरे

साथी नहीं है ऐसा अपने आपको एकत्व स्वरूपमय तो निरखलो, ध्येय बना लो । क्या करना है मुझे ? मुझे अपने निकट आना है और ज्ञानमात्र रह जाना है । बाहर में और क्या काम करना है, किया भी क्या जा सकता है, इतने महल बनाए वे गिर गए, अरे ! किसका विकल्प लादते हो ? बाहर में जिस पदार्थ का जो होता हो हो, बाहरी पदार्थ छिदे-भिदे किये जाँय, विनाश हो, वियोग हो; मैं तो परिपूर्ण निजस्वरूपमात्र यह आत्मतत्त्व हूँ ऐसे आत्मा की जहाँ पकड़ नहीं है और बाहर के विषयसाधनों में जिसकी दृष्टि लग रही है, उसे तो क्लेश ही क्लेश है, अशान्ति ही अशान्ति है । शान्ति का नाम नहीं ।

**संसार में थकने पर ही कल्पित विश्राम** – भैया ! अशान्ति करते-करते भी तो थक जाते हैं सो शांति दिखती है, जिसे कहते हैं कि अब परेशान होकर, झक मार कर बैठ गये, सो लोगों को लगता है कि बड़ा शान्त है, पर अंतरङ्ग में अशान्ति वर्त रही है क्योंकि शान्तस्वरूप निज ज्ञानप्रकाश की तो पकड़ ही नहीं की । जैसे किसी घर में कोई इष्ट गुजर जाय जो बड़ा ही प्यारा हो तो घर के सभी लोग रो रहे हैं, बड़ी वेदना है, अच्छा घंटा भर रो लिया अथवा दो चार घंटा रो लिया । अब रोया तो दिनभर नहीं जाता । सो अब रोते-रोते थक गया तो थकान की वजह से सुन्नसा पड़ा है, लोग तो यह जानेंगे कि इसे शान्ति आ गयी । अरे ! अशान्ति तो वही वर्त रही है जैसी, थी दिनभर हो गया रोते-रोते बहुत समय गुजर गया इस श्रम को करते सो अब नींद तो आ गयी, पर जहाँ सबेरा हुआ, चार बजे, तो फिर वही रोना-गाना शुरू हो गया । पड़ोस में कोई गुजर गया हो तो फिर एलार्म की जरूरत नहीं है वे पड़ोसी खुद जगा देंगे । तो थककर बैठे हुए को लोग भले ही समझें कि अब यह शान्त है पर वह शान्त है नहीं; ऐसे ही सभी मोही-मलिन पुरुषों की दिनचर्या देख लो, सभी दुःखी रहते हैं । और जब भी यह मौज में हो सो समझो कि यह दुःख से थक गया है, सो अब दुःख का ढंग बदल लिया है, क्लेश तो निरन्तर है, छूटता ही नहीं है । अब क्लेशों का रूप बदल लिया है विषय-भोगों के रूप में । पहिले क्लेश का रूप था कोई धन छीन ले गया, लूट ले गया, चोरी चला गया तो उसके वियोग में था; अब थक गया दुःख से । खाने की इच्छा हुई अब स्वाद ले रहा है, दुःख का ढंग ही अब बदल गया । मोही जीव इसे दुःख नहीं मानते । दुःखी हो जाते, पर दुःख की समझ नहीं आ पाती कि मैं दुःखी हो रहा हूँ ।

**ज्ञानी की वृत्ति** – ज्ञानी पुरुष का चित्त विषयों में यों नहीं लगता है कि उसे ज्ञान के सिवाय अन्यत्र कहीं लगने की श्रद्धा नहीं है । इन हेय वस्तुओं में, कुतत्त्वों में श्रद्धा न रहे इसका उपाय है कि उनके ढिग न जावो, व्रतों की जो बाढ़ें बतायी गयी हैं जैसे शील की बाढ़ अनेक हैं – किसी स्त्री का वस्त्र न पहिनें, किसी पुरुष का वस्त्र न पहिनें, निकट न बैठें, रागभरी दृष्टि से बोलचाल न करें आदि जैसे अनेक बाढ़ें हैं उन बाढ़ों का प्रयोजन यह है कि थोड़ा भी ढङ्ग स्नेह का मत रक्खो, क्योंकि थोड़े ही ढङ्ग के बाद यह स्नेह बढ़-बढ़कर एक विशाल भयंङ्कर रूप में बढ़ जाता है । तो किसी भी बाह्य पदार्थ में रंच भी बुद्धि मत लगाओ, क्यों उनकी ओर रुचि होने का अवकाश हो । यदि उनकी ओर रुचि न होगी तो चित्त लीन न होगा, यह तो ज्ञानी पुरुष की बात है, अब अज्ञानी की बात देखो ।

**तत्त्वश्रद्धा के अभाव का व्यक्त कारण** – इस अज्ञानी पुरुष का चित्त तत्त्वज्ञान में क्यों नहीं लगता है,

धर्मचर्चा में चित्त क्यों नहीं लगता, ज्ञान की बात क्यों कठिन दिखती है ? कोई कहता है कि क्षयोपशम नहीं है साहब ! अरे ! नहीं है तो इस करणानुयोग की विशेष बातें, कर्मों की अन्य-अन्य स्थितियाँ न जान सकोगे, न जानो, पर यह मैं आत्मा केवल ज्ञान-प्रकाशमात्र हूँ ऐसा अनुभव करने लायक क्षयोपशम ले सकते हैं । नाना प्रकार की विचित्र विद्याओं का क्षयोपशम न भी हो, पर अपने आपके स्वरूप का ज्ञान करने का क्षयोपशम तो प्रत्येक मनुष्य में है । अक्षरविद्या में पढ़ने और बाँचने का क्षयोपशम तो पशुओं के भी नहीं होता । किसी भैंस के आगे शास्त्र रख दो और कहो कि पढ़, तो क्या वह पढ़ देगी ? नहीं पढ़ सकती है ? मगर उसके भी इतना क्षयोपशम है कि अपने आत्मा के स्वरूप का अनुभव कर सकती है । यहाँ की नानाप्रकार की विद्याओं के पाने का क्षयोपशम होने से मोक्षमार्ग न मिल जायगा किन्तु आत्मानुभव की बुद्धि मिले, आत्मानुभव जगे तो उससे मोक्षमार्ग मिलेगा । देखो भैया ! है तो स्वयं ज्ञानमय, केवल ज्ञान की दिशाभर पा जाय इतनी ही तो बात है, मगर अज्ञानी जीव का तत्त्व की बातों में चित्त नहीं लगता, क्योंकि तत्त्व में उसकी श्रद्धा ही नहीं है । क्यों , श्रद्धा नहीं है कि इसने वस्तुस्वरूप की ओर बुद्धि ही नहीं लगायी है ।

**अज्ञानी के विवेचन का दिवाला** – भैया ! बताओ इतना समझने में क्या कठिनाई है कि प्रत्येक पदार्थ जुदा है । कुछ कठिनाई तो नहीं है, पर मोह की लगार हो तो यह बात समझ में नहीं आती है । किसी का मान लो १०-२० हजार का धन गिर गया हो अथवा किसी ने छीन लिया हो, चुरा लिया हो तो वह दुःखी हो रहा है । और उसे समझाने बैठो, देखो भाई ! इतनी बात समझ लो कि वह धन हमारे पास था ही नहीं, तो वह कहता है कि तुम कह तो ठीक रहे हो, पर यहाँ समझ में आता ही नहीं । तो मोह का लगार है इस कारण समझ में नहीं आता है । वही बात दूसरे को समझाये वही पुरुष जिसके २० हजार गिर गए थे तो दूसरे को समझाने लायक तो समझ है इसके पर खुद समझने लायक समझ इसके नहीं आती है कितनी विचित्रता है । अज्ञानी पुरुष ने वस्तुस्वरूप की ओर बुद्धि ही नहीं लगायी इसलिये उसके तत्त्व में श्रद्धा नहीं है और जब श्रद्धा नहीं है तो उस स्वरूप में चित्त कहाँ लग सकता है ।

**कल्याणप्रद शिक्षण** – इन दो श्लोकों से हमें यह शिक्षा लेना है कि अनादिकाल से ही संसार में हम जन्म-मरण पाते चले आ रहे हैं । आज दुर्लभ मानवजीवन पाया है तो इसका खूब सदुपयोग कर लें, ध्येय का निर्णय कर लो । जिस ओर चित्त लगाने से संकट मिट सके उस ओर ही चित्त लगाओ, शेष सर्व पदार्थों में उदासीनता वर्तो, इस वृत्ति से ही कल्याण होगा ।

## श्लोक-97

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा भिन्नो भवति तादृशः ।

वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

**भिन्नात्मा की उपासना से भिन्नात्मत्व की उपलब्धि –** मुमुक्षु पुरुष को जिस विषय में ध्यान लगाना चाहिए उस विषय का वर्णन यहाँ दो प्रकारों में किया जायगा । एक तो इस मुमुक्षु का ध्येय भिन्न तत्त्व होगा और दूसरे उपाय से मुमुक्षु का ध्येय अभिन्न तत्त्व होगा । यह जीव भिन्न आत्मा की उपासना करके अर्थात् अपने से भिन्न जो अरहंत-सिद्ध देव हैं उनकी उपासना करके वैसा ही उत्कृष्ट बन जाता है । जैसे अरहंत-सिद्ध देव मुझसे भिन्न हैं और ये खुद भी अपने आपके स्वरूप में शुद्ध होने के कारण कर्म-नोकर्म से भिन्न हैं । इस भिन्न के दो भाव समझना कि वह हम आप से भिन्न है और वह खुद भी भिन्न है, अर्थात् उन्होंने कर्म-नोकर्म का भेदन किया है, ऐसे भिन्न आत्मा की उपासना करके यह जीव उस ही प्रकार का परमात्मा हो जाता है ।

**भिन्नात्मा की उपासना की उपादेयता का दृष्टान्त पूर्वक समर्थन –** भिन्नात्मा की उपासना से भिन्नात्मा होने के समर्थन में एक दृष्टान्त कहा जा रहा है कि जैसे बत्ती दीप की उपासना करके उस दीप से भिन्न होकर भी यह बत्ती उस ही प्रकार की प्रकाशमय हो जाती है । पहिले समय में दीवा जलते थे सरसों के तेल के । एक दीवा तैल का जल रहा है दूसरा जलाना है तो उसकी बत्ती को लौ में लगा दो । यद्यपि बत्ती का स्वरूप अन्य प्रकार है और उस लौ का स्वरूप अन्य प्रकार है, लेकिन यह बत्ती उस दीपक की लौ का स्पर्श पाकर उसकी उपासना करके यह बत्ती भी प्रकाशमय हो जाती है । जलते हुये दीपक के पास दूसरे दीपक की बत्ती जब ले जाते हैं तो ऐसा लगता है जैसे यह बत्ती उस दीपक की उपासना कर रही है । उस दीपक से मानो यह बत्ती कुछ भीख मांग रही है, यों सेवा करती है । वह बत्ती दीपक की उपासना करके स्वयं प्रकाशमय हो जाती है । इस ही प्रकार भिन्न आत्मा जो अरहंत सिद्ध देव हैं उनकी उपासना करके भी यह भक्त परमात्मा हो जाता है ।

**भिन्न में अभिन्न की उपासना –** भैया ! वस्तुत: सिद्ध के ध्यान में भी उस ध्यान को माध्यम बनाकर अपने ही स्वभाव की उपासना की जा रही है । किन्तु मुमुक्षु यहाँ यत्नपूर्वक साक्षात् अरहंत, सिद्ध विषयक ध्यान बनाता है इस कारण कहा गया है कि यह भक्त पुरुष भिन्न आत्मा की उपासना करके भिन्न हो जाता है । इस मुमुक्षु पुरुष को जिसमें चित्त लगाना चाहिए ऐसा वह आत्मध्येय दो प्रकार का है । एक तो स्वयं अपना आत्मा जो अभिन्न ध्येय है इसकी बात इसके आगे के श्लोक में कही जायगी, और दूसरे प्रकार यह भिन्न ध्येय यह भिन्न आत्मा है जो समस्त दोषों से विविक्त हो गया है; जिसमें आत्मगुणों का पूर्ण विकास है । ऐसे भिन्न ध्येय की उपासना से भी यह आत्मा परमात्मा बन जाता है । जैसे बत्ती अपना अस्तित्त्व न्यारा रख रही है; अपना व्यक्तित्व अपना परिणमन सब अपने से न्यारा रख रही है फिर भी जब दीपक की उपासना में यह बत्ती तन्मय होती है तो यह बत्ती भी जल उठती है । जिसमें कुछ प्रकाश न था ऐसी बत्ती अब प्रकाशमय बन जाती है ऐसे ही भिन्न अस्तित्व रखने वाला यह आत्मा परमात्मा की उपासना करके परमात्मा हो जाता है ।

**पावन प्रभुभक्ति –** इस पवित्र अरहंत-सिद्धदेव के प्रति भक्ति पहुँचे यह बहुत पवित्रता का काम है । जगत

के मोही जीव में ऐसी सुबुद्धि कहाँ है कि वे विषय-कषायों में रुचि न करके, उनमें आस्था न बनाकर निर्दोष जो परमदेव हैं उनकी भक्ति में, उनके गुणानुराग में रहकर प्रसन्न रहा करें । कुछ खोजकर भी देख लो; एक छोर से दूसरे छोर तक सारे नगर में ढूंढकर भी देख लो, विषय-कषायों में रुचि रखने वाले लोगों की संख्या नजर आयगी । कोई बिरला ही पुरुष ऐसा है जो इन्द्रिय के विषयों से उदासीन है और भगवद्भक्ति में जिसका उत्साह है । यह भी बहुत कठिन बात है कि प्रभु से नेह लगे । यह मोह की कितनी कठिन मलिनता है कि इस में ही जीव का मन मलिन दुःखी पुरुषों में पहुंचता है । हालांकि जिस प्रकार भिन्न अरहंत, सिद्ध भगवान हैं वैसे ही भिन्न परिवार के लोग हैं । समस्त जीव एक दूसरे से न्यारे हैं लेकिन इन मोही मलिन पुरुषों में नेह लगाने से जवाब में क्या मिलेगा । जैसा विषय बनाया, परिणाम किया उस ही प्रकार की बात तो मिलेगी । निर्दोष, सर्वज्ञ, वीतराग प्रभु की भक्ति करने के जवाब में क्या मिलेगा, अर्थात् अपने आपमें क्या प्रभाव पड़ेगा ? निर्मलता प्रकट होगी ।

**जगजंजाल** – अहो ! यही तो जगजंजाल है कि मिलता कुछ भी नहीं है पर नेह लगाते जा रहे हैं इन भोग के साधनों में । वृद्धावस्था में तो कुछ खबर भी आती होगी कि सारी जिन्दगी यों ही व्यर्थ में खोई, अंत में रहा कुछ नहीं । कितनी विडम्बनाएँ की, कितने मंसूबे बनाए, कितना श्रम किया पर आज कुछ नहीं है । आती है वृद्धावस्था में खबर, लेकिन साथ ही मोह और प्रबल भी होता जाता है । हाय ! कैसी परेशानी है कि क्लेश भी भुगतना जारी रहता है व मोह की बात ही चित्त में समायी रहती है । जिनके कारण दुःखी हुए हैं उनके ही प्रति नेह बढ़ाया जाता है यह स्थिति हो रही है भ्रमों में । इस जीव का यह काम था क्या कि शरीर में यों फँसे रहना । स्वयं यह ज्ञानस्वरूप है और अपने ज्ञानस्वरूप को भूल जाय और इन इन्द्रिय के साधनों से ऐसा ज्ञान किया करे, क्या यह कोई जीव का काम था लेकिन हो तो यही रहा है । इन्द्रियों से प्रीति, इन्द्रिय के विषयों से प्रीति और इन्द्रिय-विषय के साधनों से प्रीति । शुद्ध निर्दोष प्रभु में चित्त लगाना यह बिरले ही ज्ञानी पुरुष के होते हैं ।

**चित्तलीनता की परख** – प्रभु में चित्त ज्यादा बसा है, या स्त्री पुत्र में चित्त ज्यादा बसा है ? इसकी परख यह है कि अपने सम्बंधित तन, मन, धन, वचन इन सबका न्योछावर किसके प्रति करने की उमंग है, इसे विवेक-तराजू से तौल डालो, उससे यह परख होगी कि हमारा किस ओर अनुराग विशेष है । बड़ों की संगति जैसे इस लोक में कठिन है तो उस बड़े से बड़े देवाधिदेव सर्वज्ञ प्रभु में नेह लगाना, उनकी भक्ति में चित्त जाना यह कितनी कठिन बात है । जो पुरुष प्रभु की भक्ति करते हैं उनके लिए मोक्ष का मार्ग सब स्पष्ट सामने आता है । ऋषि संतों का अथवा किसी पुरुष का ज्ञान भी शुद्ध हो जाय और आचरण भी शुद्ध हो, किन्तु जब तक प्रभु में भक्ति नहीं होती तब तक मुक्ति का मार्ग उसे नहीं प्राप्त होता है । प्रभुभक्ति का बड़ा मूल्य है, साक्षात् परिणामों में उज्ज्वलता होने का साधन है तो यह प्रभुभक्ति है ।

**णमोकार मंत्र में आद्यपद** – हम णमोकार मंत्र का स्मरण करते हैं, पर पाठ पढ़कर चले जायें, स्वरूप का स्मरण न करें तो उससे अपने आत्मा पर कुछ भी असर नहीं होता है । जब जिस पद का उच्चारण करें, जिसको नमस्कार कहने की बात कहें उसका स्वरूप भी उसके साथ-साथ स्मरण में हो तो उसमें

अलौकिक लाभ होता है । उत्कृष्ट पद ५ हैं – अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु । सर्वप्रथम कोई मनुष्य साधु बनता है, न पहिले आचार्य हो सके, न उपाध्याय हो सके । प्रथम तो दीक्षा होगी तब वह साधु कहलायेगा । आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठी ये दो पद आत्महित के लिए आवश्यक नहीं है । आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठी न बने तो मोक्ष न मिलेगा ऐसी बात नहीं है, मुक्ति के लिये तीन पद अवश्य आते हैं साधु हो, अरहंत हो और सिद्ध हो । आचार्य, उपाध्याय भी साधु ही हैं, थोड़ी व्यवहार की विशेषता भर है । जो समस्त साधुओं के प्रमुख हों, साधुजनों को प्रायश्चित दें, उत्तम सम्मति दें, उन्हें आदेश दें तो वे आचार्य कहलाते हैं । और, जो उन साधुओं में विशेष ज्ञानवान साधु हैं, जिन्हें आचार्य ने उपाध्याय घोषित किया है वे उपाध्याय कहलाते हैं । ये तीनों साधु परमेष्ठी हैं ।

**णमो लोए सव्वसाहूणं** – साधुओं का काम आत्मसाधना का है । कैसे आत्मसाधना होती है, कैसे ये योगीजन अपने आपमें इस परमार्थ आत्मतत्त्व की साधना करते हैं ? इन सब बातों की जिसे परख हो ऐसा भक्तपुरुष जब 'णमो लोए सव्वसाहूणं' कहता है तब उसके उपयोग में विभिन्न प्रकार से तपस्या में रत साधुजन दृष्ट होते हैं । कोई गर्मी में पहाड़ पर एकाकी ध्यानस्थ होकर तपस्या करते हैं, कोई कितने ही दिनों तक उपवास ठाने हुए अपनी तपस्या में तुष्ट हैं; कोई किसी गुप्त एकांकी गुफा में साधना के लिए विराजे हुए इस शुद्ध ज्ञानतत्त्व की साधना करके तृप्त हो रहे हैं । यों अनेक प्रकार से साधुजन दिख जायें ऐसी उपयोग-धारा के साथ णमो लोए सव्वसाहूणं का जाप है ।

**णमो उवज्झायाणं** – उपाध्याय परमेष्ठी ज्ञानी साधु होते हैं, जो स्वयं अपनी विद्या चर्चित कर रहे हैं और साधुवों को अध्ययन कराते हैं । जब णमो उवज्झायाणं बोलो तो ऐसा दृश्य उपयोग में आये कि इस ओर एक उपाध्याय परमेष्ठी विराजा है और ४, ६, १० साधुजन विनयपूर्वक उपाध्याय से ज्ञानाभ्यास कर रहे हैं, जिनका केवल ज्ञानार्जन ही प्रयोजन है, किसी अन्य ध्येय में जो हैं ही नहीं । एक ज्ञान की ही लौ लगी है ऐसे साधुजन, देखो, कैसे रुचिपूर्वक विनय सहित उपाध्याय परमेष्ठी से अध्ययन कर रहे हैं यहाँ बैठे हैं, उस जगह हैं, टीले पर हैं, मैदान में हैं, वृक्ष के नीचे हैं, कितनी ही जगह शास्त्र पढ़ते हुए साधुसंतों के दृश्य उपयोग में रहें और सब उपाध्यायों को एक नजर में देखते हुए बोले "णमो उवज्झायाणं" । स्वरूपदर्शन सहित भक्ति में अतुल प्रताप होता है ।

**णमो आयरियाणं** – जब "णमो आयरियाणं" बोलें तब अनेक जगह ऐसे दृश्य अपने ज्ञान से दिखे कि १०, २०, ५० साधुओं के बीच आचार्य परमेष्ठी विराज रहे हैं । ये आचार्य स्वयं संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हैं, अपने आत्मा की साधना का ही जिनका मुख्य लगाव है, साथ ही पर जीवों पर परमकरुणाभाव होने से साधुसंत जनों को मोक्षमार्ग में चलने की पद्धति बताते जा रहे हैं और कभी-कभी किसी से दोष बन जाय तो उस दोष की शुद्धि करके प्रायश्चित्त देकर शिष्य को मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने में सहयोग देते हैं । ऐसे विभिन्न क्षेत्रों में विराजे हुए साधुसंतों के बीच आचार्य परमेष्ठी नजर आयें और उस नजर के साथ ही साथ चिंतन हो "णमो आयरियाणं" ।

**णमो अरहंताणं** – आचार्य, उपाध्याय व साधु—ये तीन परमेष्ठी आत्मसाधना के प्रताप से एक अभिन्न ज्ञानस्वरूप के ध्यान में रत होते हैं, जिस विशिष्ट ध्यान का नाम शुक्लध्यान है उसके प्रताप से भव भव के संचित कर्मों का विनाश कर रहे हैं । ये साधुसंत, अशुभोपयोग और शुभोपयोग से निवृत्त होकर शुद्धोपयोग में लीन हो रहे हैं । ऐसे विशुद्ध उपयोग द्वारा ये साधुजन दोषों का व्यय करते जा रहे हैं, जब समस्त दोष नष्ट हो जायें तो इस ज्ञानस्वरूप में स्वत: ऐसा बल प्रकट होता है कि सारे विश्व का ज्ञाता हो जाता है । जैसे किसी लोकविद्या के पढ़ने की पद्धति है—पुस्तक लेकर बैठना और गुरु से पाठ सीखना । सभी लोक-विद्याओं की करीब-करीब इस ही प्रकार की पद्धति है जो समस्त लोकालोक को जान जाय ऐसी अतुलविद्या की सिद्धि करने का उपाय सब उपायों से कुछ विलक्षण है क्योंकि अपने ज्ञान को सब ओर से समेट लें, किसी भी अन्य वस्तु के जानने की रुचि न करें; यह सारे विश्व को जानने का उपाय कहा जा रहा है । सारे विश्व को जानने के उपाय में यह कर्तव्य है कि एक भी अन्य पदार्थ को जानने श्रम न करे, अपने उपयोग को अपने ज्ञानस्वभाव में केन्द्रित कर दे । इस केन्द्रीकरण का ऐसा अतुल प्रभाव पड़ता है कि एकसाथ अर्न्तमुहूर्त में ही समस्त तीन काल के पदार्थों का यह ज्ञाता हो जाता है । जब यह सर्व विश्व का ज्ञाता हुआ तब अरहंत कहलाता है, अरहंत देव के चार घातिया कर्म नहीं हैं, सभी दोष नहीं हैं, केवल शुद्ध ज्ञान विकासरूप है ।

**णमो सिद्धाणं** – जब णमो सिद्धाणं का स्मरण करें तो यों लोकाकाश में विराजे हुए निर्दोष परमात्मा का स्वरूप दृष्ट होना चाहिए । जब णमो सिद्धाणं कहे तो केवलज्ञानपुंज लोक के अंत में विराजे हुए परमात्मा दृष्टि में रहना चाहिए । इस तरह भिन्न आत्मा की उपासना करके यह भक्त भिन्न अर्थात् निर्दोष परमात्मा हो जाता है । इस प्रकार परमात्मा की ओर बुद्धि करने से परमात्मा में अपनी श्रद्धा बढ़ती है और इस ही पवित्र स्वरूप में चित्त लीन होता है । इसके प्रसाद से यह आत्मा सर्वकलङ्क के मुक्त होकर सर्वथा निष्कलङ्क हो जाता है ।

## श्लोक-98

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।

मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरु: ॥९८॥

**अभिन्नात्मत्व की उपासना से परमात्मत्व की प्राप्ति** – अपने चित्त को दो जगह लगाना उचित है—एक तो परमात्म स्वरूप में और दूसरे अपने आत्मा के सहज स्वरूप में । परमात्मा का स्वरूप मुझसे भिन्न है और परमात्मा को भी 'भिन्न' आत्मा बोलते हैं, अर्थात् रागद्वेषादिक विभाव, ज्ञानावरणादिक कर्म और शरीर—इन सबसे वह जुदा हो गया है इस कारण भगवान का नाम भी "भिन्न" है । उस भिन्न आत्मा की

उपासना करने से यह उपासक भी भिन्न हो जाता है अर्थात् परमात्मा हो जाता है । जैसे दृष्टान्त भी दिया गया था कि बत्ती दिया के पास पहुँचकर खुद दिया बन जाती है । तो परमात्मा में अपना चित्त बसाना हो तो परमात्मा की ओर हमारी दृष्टि अधिक रहनी चाहिये । दूसरी उपासना है निज सहज स्वरूप की । यह अभिन्न आत्मा अपने से भिन्न है, अपने आत्मतत्त्व की उपासना करके भी यह जीव परम आत्मा बन जाता है । जैसे जंगल के बाँस अपने आपसे रगड़ करके अग्नि हो जाते हैं ऐसे ही यह आत्मा अपने आपकी उपासना करके परमात्मा हो जाता है ।

**अभिन्नात्मत्व की उपासना से परमात्मत्व की प्राप्ति का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन** – भैया ! बाँसों में अग्नि देखोगे तो कहाँ मिलेगी । वे तो केवल वनस्पति हैं, किन्तु अग्निरूप बनने की उनमें शक्ति नहीं होती तो वे बांस परस्पर कुछ रगड़ करने से कैसे आग बन जाते । पत्थरों से भी जब एक दूसरे को टक्कर मारते हैं तो अग्नि के कण निकलते हैं, उससे भी विशेषता बाँसों में हैं । बाँसों के जंगलों में प्राय: धोखा ही बना रहता है । न जाने कब आग लग जाय । वे बाँस खुद ही एक दूसरे से रगड़कर आगरूप हो जाते हैं । तो जैसे बाँस बाँस की उपासना करके बाँस स्वयं आग बन जाता है इसी प्रकार यह आत्मा आत्मा के आत्मीय सहज गुणों की आराधना करके परमात्मा बन जाता है ।

**सत्पथगमन में बाधा** – भैया, बात तो इतनी स्पष्ट है कि जिस पर दृष्टि देने से तत्त्वानुभव का मार्ग साफ समझ में आता है किन्तु करते क्यों नहीं बनता; लोग इस पथपर क्यों नहीं चल पाते, और चलना भी क्या है, ऐसे ही स्वरूप का, यथार्थस्वरूप का यथार्थस्वरूप में निरखते रहना है, यही चलना है, उस यथार्थ तत्त्व की ओर दृष्टि क्यों नहीं रह पाती है ? इसमें अज्ञान-संस्कार ही कारण है ।

**सहज स्वरूप की उपासना** – प्रत्येक पदार्थ परस्पर में भिन्न है, अपने अपने स्वरूप में परिपूर्ण है, अपने आपके परिणमन से ही वह परिणमन करता है । एक पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थ के साथ सम्बंध नहीं है । निमित्त नैमित्तिक भाव में हो जाता है, निमित्त पाकर नैमित्तिक भाव, फिर भी एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से सम्बंध नहीं है । चतुष्टय सबका न्यारा-न्यारा है । यह मैं आत्मा भी अपने समग्र गुणों में तन्मय और अपने ही स्वरूप में परिणता रहता हूँ । उन सब परिणमनों का स्रोतभूत मूल आधार जो सहज स्वभाव है उस सहजस्वभावरूप मैं हूँ, ऐसी अपने आपकी प्रतीति रखने और ऐसा मानने में ही हित है तथा शान्ति प्रकट होती है । इस दृष्टि के साथ अपने आपकी ओर ही दृष्टि लगायें तो इस अभिन्न आत्मतत्त्व की आराधना होती है बहुत बड़ा प्रताप है अपने आपके सहज स्वरूप की उपासना का ।

**अज्ञान में समय यापन** – अज्ञानीजन पुण्योदय में प्राप्त हुए समागम, शान, इज्जत, प्रतिष्ठा, यश में बह जाते हैं और उसकी ही मौज में अपने स्वरूप की खबर छोड़ कर एक बाह्य दृष्टि में ही उलझ जाते हैं । जीवन के क्षण ऐसे निकले जा रहे हैं जैसे पर्वत से गिरने वाली नदी का वेग निकल जाता है, जो वेग निकलता है वो लौटकर पर्वत के ऊपर नहीं बह सकता है । गया सो गया । इसी प्रकार ये हम आपके अमूल्य क्षण जो बीत गए सो बीत गए । कोई कितनी ही मिन्नतें करे, प्रार्थना करे पर वे एक भी बीते हुए क्षण वापिस नहीं आ सकते हैं । जितने क्षण व्यतीत हो गए उनसे ही अंदाज कर लो कि जिन कार्यों में

तुम लग रहे, धन-संचय अथवा लोक सम्मान आदि उनमें जुटे-जुटे कितना समय गमा दिया, पर उनके फल में आज कुछ हाथ है क्या ? शान्ति, इज्ज्त कुछ है क्या ? लोगों की सेवा करते-करते अपना जीवन गुजार दें और उन्हीं लोगों के द्वारा अपमान हो जाय, वे ही लोग, कहो, इज्जत बिगाड़ दें ऐसा भी आज का समय है । खैर, इज्जत भी करे कोई तो उससे कुछ हाथ नहीं आता है ।

**परमार्थविभूति –** यह जैन सिद्धान्त जो वस्तुस्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन करता है उस सिद्धान्त की बात सुनने को मिलना और समझ सकना इससे बढ़कर और क्या विभूति चाहते हो ? वास्तव में इसके सिवाय और कुछ वैभव नहीं है । यदि वैभव मानते हो किसी जड़ पदार्थ के होने से तो यह बतावो कि उस वैभव से क्या आपका गुजारा होता है ? वही पावभर अन्न और दो मोटे कपड़े, यही चाहिए ना, इसके अलावा जो सारा वैभव जुटा है वह आपके लिये बेकार है ना । यदि वैभव के रखे रहने से ही कुछ मौज मानी जा रही हो तो जरूरत के माफिक तो सबके पास है ही । उसके अतिरिक्त दो चार मन पत्थर जमीन में गाड़ दो, और सोच लो कि जैसे लोगों के पास करोड़ों का धन गड़ा है वैसे ही हमारे पास भी करोड़ों का धन गड़ा है । जैसे उसके लिए वह करोड़ों का गड़ा हुआ धन बेकार है वैसे ही यह भी बेकार है । कौन सी बात पा ली है अब तक के समय में सो बतावो। एक अपने स्वरूप की खबर होना और ऐसे निष्पक्ष वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का अभ्यास कर लेना उससे बढ़कर जगत में कुछ नहीं है । मानने को कुछ भी मानते जावो । उन्हीं उपदेशों के प्रसाद से जो तत्त्वज्ञान पाया है, आत्मा की झलक पायी है उस अभिन्न आत्मा की उपासना में जो जितना समय गुजर जाय वे क्षण क्षण अमूल्य हैं, उससे अनुपम लाभ प्राप्त किया जा सकता है ।

**कारण परमात्मत्व के दर्शन की विधि –** यह अपने आपका स्वरूप अपने आपको विदित हो जाय यह बहुत कठिन लग रहा है अज्ञानी को, किन्तु ज्ञानी को विशद व्यक्त हो रहा है । चकमक में आग किसी को दिखती है क्या !, थैलियों में भरे रहते हैं । वह आग हो तो थैलियाँ जल जानी चाहियें । है उसमें आग, किन्तु यों ही नहीं प्रकट है, ज्ञानीजन समझते हैं । जो जानते हैं वे पहाड़ में से तलाश लेते हैं कि यह चकमक पत्थर है, इसमें शक्तिरूप से आग विद्यमान है पर बाहर नहीं प्रकट है । बाँस में आग शक्तिरूप विद्यमान है पर ऊपर नहीं प्रकट है । जानने वाले सब जानते हैं, और प्रकट होने का जो उपाय है उस उपाय से प्रकट भी कर लेते हैं । ऐसे ही आत्मा में, हम आप में यह परमात्मप्रभु विराजमान है । उन दृष्टान्तों में दिये गये पदार्थों में तत्त्व की बात कुछ भी प्रकट नहीं है, किन्तु यहाँ तो प्रकट है । कुछ भी हो तो अंत:व्यक्त है; किसी अंश में, किसी रूप में वह शक्ति वर्त रही है, लेकिन जिस स्वरूप के निरखने पर भव-भव के कर्म-क्लेश दूर हो जाते हैं उस रूप में नहीं निरखने में आ रहा है अज्ञानीजनों के ।

**आत्मानुभव की पद्धति –** लोक में कौन-सी वस्तु ऐसी है जिसके पा लेने पर सब कुछ पा लिया ? लोक में कौन सी वस्तु ऐसी है जिसके देख लेने पर सब कुछ देख लिया ? वह वस्तु है निज सहज चैतन्यप्रकाश । यह दूसरों की आशा रखकर नहीं मिलता है । इस आत्मतत्त्व के प्रतिपादक, उपदेशक साधुजनों की ओर निगाह रखते हुए, अरहंत की ओर दृष्टि रखते हुए की हालत में आत्मतत्त्व अनुभूत नहीं

होता । वे ही उपदेश देने वाले हैं उनको ही तकते रहें तो आत्मानुभव की बात नहीं मिलती है । अरहंत देव भव्य जीवों को साफ कह रहे हैं कि मेरी ममता छोड़ो, मेरी भक्ति छोड़ो, मेरी दृष्टि छोड़ो, जानो वस्तु का स्वरूप तो तुम्हें वह तत्त्व मिलेगा । इतना स्पष्ट प्रतिपादन कौन कर सकता है ? जिनेन्द्र देव का यह उपदेश है कि तुम वस्तुस्वरूप को समझो और हमारी भी दृष्टि छोड़ दो । तुम ही में तुम्हारा प्रभु मिलेगा । शान्त हो कर विश्राम से अपने आपमें अपना कल्याण पावो ।

**आत्ममनन का उपदेश –** भैया, बात जहाँ जैसी सच होती है वहाँ वह सच ही है, जिनेन्द्र देव का उपदेश है कि मुझे छोड़ो, मुझे भूलो, मुझसे स्नेह मत करो किन्तु सच्चे भक्तों में यह माद्दा अवश्य है कि वे प्रभु का अनुराग करके कुछ ही समय बाद प्रभु की प्रभुता को स्वरूप में गर्भित करके परदृष्टि छोड़ देंगे और अपने आपके ही स्वभाव का अनुभव करेंगे । जैसा भगवंत का उपदेश है वैसा ही कर लेंगे । जैसे बाँस में आग छिपी है पर बाँस के घर्षण का निमित्त पाकर वहाँ आग प्रकट हो जाती है, इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि गुण शक्तिरूप से विद्यमान है; प्रकट नहीं है, किन्तु आत्मा का आत्मा में ही घर्षण हो, आत्मा में ही अपना पुरुषार्थ करे, दृष्टि करे तो सर्व गुणों की व्यक्ति हो जाती है ।

**केन्द्रीयकरण का प्रताप –** आत्मीय गुणों की प्राप्ति के लिये अन्य सब बाहरी आडंबर, क्रियाएँ, चेष्टाएँ, दृष्टियाँ, आश्रय, सब कुछ छोड़कर, समस्त परतत्त्वों से उपयोग हटाकर स्वरूपचिंतन में एकाग्र करना है । केन्द्रित होने के बाद शक्ति विशेष प्रकट होती है । जैसे आक्सी काँच में सूर्य का प्रकाश केन्द्रित होने के बाद उसमें परवस्तु को जला देने की ताकत आ जाती है । जैसे हाई जम्प करने वाला बालक याने रस्सी को फांदकर निकलने वाला बालक पहिले अपनी शक्ति को पृथ्वी की ओर लगाता है फिर उचकता है तो वह ऊँचा उचक जाता है । जो लोग ऊँची कूद करने का काम करते हैं वे उस कूद से पहिले अपने को जमीन पर बोझ देकर उठाते हैं । शक्ति को अपने आप की ओर उन्होंने केन्द्रित की जिसके फल में वे ऊँची कूद कर सके ।

**परम साधना –** जो पुरुष मौन रखकर, चुप रहकर अपने आपमें कुछ विचारणा करके कहते हैं तो उनके बात करने में कुछ विशेष प्रताप प्रकट होता है क्योंकि उन्होंने दूसरों को कहने के पहिले अपने आपमें संयम बनाया । तीर्थंकर प्रभु मुनि होने के बाद पूर्ण मौन रहते हैं । किसी से बात नहीं करते जिसके फल में उन्हें केवलज्ञान प्रकट हुआ और फिर केवलज्ञान के बाद वाञ्छा की निरीह वृत्ति से उनका दिव्य ध्वनिरूप में उपदेश हुआ । बल कहाँ से लाना है ? स्वयं ही यह अनन्त शक्ति का पिण्ड है । अपने आपमें अपने आपको केन्द्रित करें उतना ही बल, आनन्द, ज्ञान, दर्शन असीम प्रकट होता है । अपने आपकी उपासना से ऐसी ध्यान-अग्नि प्रकट होती है कि भव-भव के बसे हुए कर्म भी भष्म हो जाते हैं और समता-जल से सारी भष्म उड़कर यह आत्मा स्वच्छ, शुद्ध, अमूर्त, ज्ञानस्वरूप प्रकट हो जाता है । इस ही में परम कल्याण है, ऐसी ही शुद्ध स्थिति हमारे लिए उत्तम है । यही मंगलस्वरूप है, यही वास्तविक शरण है ।

**बाह्य में शरण कहाँ –** हम शरण कहाँ ढूँढने जायें ? बाहर में कहीं मिलता नहीं शरण, क्योंकि वस्तु का

स्वरूप ही ऐसा है कि कोई पदार्थ हमें अपना नहीं सकता, बातों में कोई कैसी ही शान मारे, कितना ही कोई चतुराई होशियारी की बातें करे पर मुझे वह अपना कैसे सकेगा । वस्तु के स्वरूप में भी यह बात नहीं है कि कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु को अपना सके, फलत: यह मैं आत्मा, स्वयं ही अपने आपके लिए शरण हूँ और परम शरण हूँ ।

**महती विडम्बना और सम्पदा –** भैया ! व्यर्थ ही मोह का परिणाम करके दुःखी होता है यह जीव । दुःखी होने का कारण कुछ नहीं है । कौन करता है दुःखी ? धन मिटा, मिट गया, पर वस्तु है उसका यों परिणमन हो गया । उसमें दुःख की कौन सी बात थी ? मोहकल्पना बनाकर इसने खुद को व्यर्थ दुःखी कर डाला । कोई इष्ट-मित्र का कुटुम्बी, का वियोग हो गया, दूसरा जीव था जब तक यहाँ था, वहाँ था, चला गया तो चला गया । इससे अपने आत्मा में कौन सा नुकसान हुआ ? तत्त्व से देखो, स्वरूप की बात निरखो । कुछ भी तो हानि की बात नहीं है ना, लेकिन यह अज्ञानी पुरुष कल्पना करके अपना ऐसा दिमाग बना लेता है कि हाय, मुझ जैसा कोई दुःखी नहीं है बड़ा संङ्कट आ जाता है । सङ्कट ही नहीं है क्षणमात्र भी, परकल्पना में पहाड़ बराबर संङ्कट अपने ऊपर डाल लिया । अज्ञान अवस्था से बढ़कर कुछ विडम्बना नहीं है और ज्ञानदृष्टि के बराबर लोक में कहीं भी कुछ सम्पदा नहीं है । इस अपने आपमें अनादि, अनन्त, अहेतुक, अंत:प्रकाशमान ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि करें और अपने में अपना प्रसाद पायें तो यह आत्मा बहिरात्मावस्था को छोड़कर परमात्मा हो जाता है ।

## श्लोक-99

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचां गोचरं पदम् ।

स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुन: ॥९९॥

**शुद्ध उपासना का फल –** जैसा कि पूर्व के दो श्लोक में बताया गया है कि अपने उपयोग को स्वच्छ और परम विकसित करने के लिए भेदरूप से परमात्मा की उपासना करनी चाहिए और अभेदरूप से परमात्मतत्त्व की उपासना करनी चाहिए । इस श्लोक में उसी उपाय का समर्थन करते हैं कि इस ही प्रकार से इन अनिर्वचनीय आत्मतत्त्व की निरन्तर भावना करनी चाहिए । इस निजपरमात्मतत्त्व को भी द्रव्य, गुण, पर्याय के विवरण सहित जानना सो भेदरूप जानना है और द्रव्य गुण पर्याय का भेद त्यागकर केवल प्रतिभासस्वरूप को जानना सो अभेद जानना है । यों भेदरूप उपासना से अथवा अभेदरूप उपासना से यह जीव अनिर्वचनीय पद को स्वयमेव प्राप्त होता है ।

**विषयसुखों में शान्ति का अलाभ –** इस जीव को चाहिए क्या ? शान्ति ! शान्ति क्षोभ में नहीं मिलती है, जिस परिणमन में परपदार्थ निमित्त हों अथवा परपदार्थों की ओर दृष्टि हो वे परिणमन शान्ति के लिए नहीं होते केवल क्षोभ को ही करने वाले होते हैं । परम शान्ति का पद वह है जिसके बाद फिर यह जीव

लौटता नहीं है । विषयसुखों को भोगकर यह जीव परिवर्तन भी किया करता है । एक ही इन्द्रिय-सुख में एक ही पद्धति से लग नहीं सकता, ऊब आ जायगी । खाने को सुख किसी को देना हो तो उसे खिलाते ही जावो, मना करे तो भी उसे डालो, जबरदस्ती खिलावो, तुम्हें खाने का ही तो सुख चाहिए, उसे खाते-खाते ऊब आ जायगी, उससे हटना चाहेगा । केवल एक आत्मीय प्रतिभासात्मक आनन्द ही ऐसा आनन्द है कि जिस आनन्द से ऊब नहीं आ सकती । कोई पुरुष प्रथम ही अभ्यासी हो इस ज्ञान योग का तो उसे भी इस ज्ञानतत्त्व में बसते हुए ऊब आती है, पर इस ऊब का कारण ज्ञानमय स्वरूप का अनुभव होना नहीं है, किन्तु पूर्व पड़ी हुई कषाय-वासना जो प्रकट हुई है वह कारण है । विषयसुखों में ऊबने का कारण उस ही विषयसुख का अनुभव भी हो जाता है, वासना तो ज्ञानयोग के प्रथमाभ्यासी के भी है, पर जैसे जो विषय का भोग ही ऊब का कारण बन जाता है ऐसा आत्मानुभव की ऊब में कारण आत्मानुभव नहीं है ।

**उत्कृष्ट पद का निर्देशन –** उत्कृष्ट आत्मानुभव का परम पद ऐसा है कि जिसके अनुभव के बाद फिर यह जीव लौटता नहीं है । ऐसा उत्कृष्ट पद सिद्ध पद है, अरहंत अवस्था है जिसमें निर्दोषता की प्राप्ति के बाद फिर कभी उसमें दोषता नहीं आती । कुछ सिद्धान्त हैं ऐसे जो बैकुण्ठ के बाद फिर संसार में जन्म लेना मानते हैं । उस सिद्धान्त में यह माना गया है कि रागद्वेष का मूल में सर्वथा अभाव हुआ ही नहीं करता है, रागद्वेष दूर हो गये, सर्वज्ञात भी हो गए पर उस जीव में किसी समय रागद्वेष उठ सकते हैं और वे बैकुण्ठ से गिर जाते हैं । विमानों से ऊपर जितने देवों के स्थान हैं वे बैकुण्ठ माने जा सकते हैं । नव ग्रेवेयक, यहाँ तक तो मिथ्यादृष्टि भी उत्पन्न हो जाते हैं । नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर इनमें यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं लेकिन वे भी तो वहाँ से चय करके इस मनुष्यलोक में आया करते हैं । लोक का जो नक्शा है उसमें कण्ठ के स्थान पर जो रचना है उसे बैकुण्ठ कहते हैं । बैकुण्ठ और ग्रेवेयक दोनों का एक ही अर्थ है । ग्रीवा का भी नाम कण्ठ है, जिससे ग्रेवेयक शब्द बना और इस कण्ठ का नाम कण्ठ है ही । वह परमपद नहीं है । उत्कृष्ट पद वही है जहाँ से पुनर्जन्म न हो ।

**मुक्तिविषयक एक जिज्ञासा व समाधान –** इस प्रसङ्ग में एक शङ्का प्राय: हो जाती है कि लोक में से जो जीव मुक्त हुए हैं वे तो लौटकर आते नहीं और मुक्ति का होना बराबर जारी बना रहता है तो कोई समय ऐसा आ जाना चाहिए कि जब संसार खाली हो जाय । क्योंकि मुक्ति में पहुँचे हुए लौटकर आते नहीं और मुक्ति का होना बराबर जारी चलता है तो वह समय क्यों न आ जायगा कि जब संसार में कोई जीव न रहेगा ? इसके समाधान में पहला प्रमाण तो यह है कि अब तक संसार खाली क्यों न हो गया ? क्योंकि अबसे पहिले अनन्तकाल व्यतीत हुआ है, काल पर दृष्टि दो तो पता पड़ेगा, सीमारहित काल चला आया है । मुक्त होते-होते अबसे भी कितने ही काल पहिले खाली हो जाना चाहिए था । दूसरी बात यह है कि जीवराशी अक्षयानन्त मानी गयी है । अनन्त ९ प्रकार के होते हैं — जघन्ययुक्तानन्त, मध्यमयुक्तानन्त, उत्कृष्टयुक्तानन्त , जघन्यपरीतानन्त, मध्यमपरीतानन्त, उत्कृष्टपरीतानन्त, जघन्यअनन्तानन्त, मध्यमअनन्तानन्त और उत्कृष्टअनन्तानन्त । यह जीवराशी अक्षयानन्त है । अनन्त में

भी अनन्त जीव मोक्ष चले जायें तब भी अनन्त रहें ऐसी राशि को अक्षयानन्त कहते हैं । इस राशि का जब तक अनुमानरूप से भी पता न चलेगा कि ये अक्षयानन्त होते हैं जब तक इस जिज्ञासा का समाधान भली प्रकार नहीं हो सकता है । एक निगोद के शरीर में अनन्तानन्त जीव बसा करते हैं, अब तक अनन्तकाल में जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब एक शरीर में बसे हुए निगोदोंप्रमाण भी नहीं हो सकते ।

**निर्वाण के बाद पुनर्भव का अकारण –** जो जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित हो गए हैं, कर्मबंधन का कुछ कारण नहीं रहा, तो कर्मों के लिए निमित्तभूत कषायभाव न मिले तो कर्म बँध कैसे जायेंगे ? एक बार मुक्त होने पर यह जीव लौटता नहीं है । यह संसार तो अनन्तानन्त अक्षयानन्त जीवों से भरा हुआ है । यह संसार खाली होना है तो इसकी ओर दृष्टि क्यों होती है कि संसार बनाने के लिए मोक्ष से लौटने का समर्थन किया जाय या आवश्यक समझा जाय ! यह अभेद आत्मानुभव का एक निरुपम उपाय है जिसके बल से भव-भव के संचित कर्मों का विनाश करके यह जीव सर्वथा शुद्ध हो जाता है । परमकल्याण उस अनाकुलता के पद में ही है ।

**क्लेश के साधनों में अज्ञानी की आसक्ति –** भैया ! आकुलता के जितने साधन हैं उन साधनों से कुछ हित नहीं है । किससे सम्बन्ध बढ़ाया जाय, किसको चित्त में बसाया जाय कि अपने को शान्ति मिले, ऐसा कुछ निर्णय तो बनाओ और प्रयोग करके देखलो । ये संसारी जीव मोह में दुःखी भी होते जाते और उस मोह को छोड़ भी नहीं पाते । कोई एक बूढ़े बाबा अपने घर के नाती-पोतों से सताये जाने के कारण दुःखी होकर रो रहे थे । सड़क से एक सन्यासी जी निकले । रोने का कारण पूछा-तो उसने बताया कि घर के नाती पोते हमें पीटते हैं । तो सन्यासी ने कहा कि हम एक उपाय बतायें, सारा दुःख मिट जायगा । इस बूढ़े ने सोचा कि सन्यासी जी महाराज जरूर ऐसा कोई मंत्र-तंत्र कर देंगे तो ये नाती-पोते हमारी हू हूजूरी में रहा करेंगे । सो कहा – हाँ, सन्यासी जी कर दो अपना तंत्र-मंत्र । तो सन्यासी ने कहा— तुम अपना घर छोड़कर हमारे सङ्ग हो जावो । तो बाबाजी कहते हैं – सन्यासी जी, चाहे वे नाती-पोते हमें मारे, पीटें, पर वे हमारे नाती ही कहलायेंगे और हम उनके बाबा ही कहलायेंगे । तुम कौन आ गये बीच में दलाली करने । तो मोह में दुःखी भी होते जाते और मोह करना ही उस दुःख के मेटने का इलाज भी समझते जाते । कितनी यह अज्ञानता की बुद्धि है ।

**यथार्थ श्रद्धा का प्रसाद –** भैया ! नहीं मिट सकता है क्लेश, नहीं मिट सकता है राग, पर ज्ञानप्रकाश तो यथार्थ रहे कि यह कुमार्ग है और यह सुमार्ग है । कोई मेरे खिलाफ कहता है, इसे मेरे मन के माफिक कहना चाहिए । यह मैं उपयोग अपने ज्ञानस्वभाव के अनुकूल रह पाता हूँ अथवा नहीं, इस ओर दृष्टि देना चाहिए, एतदर्थ चेतन-अचेतन परिग्रहों में हम आस्था न रखें कि ये मेरे सुख के कारण हैं, सबसे पहली बात यह है यदि उन चेतन-अचेतन पदार्थों में अपने लिए सुख की आस्था रखें, जो बात अनहोनी है उसके प्रति होने की कल्पना करें तो वहाँ कष्ट अवश्यम्भावी है । अनहोनी को अनहोनी समझें और होनी को होनी समझें तो कोई कष्ट नहीं है । मैं आत्मपदार्थ अपने ही परिणामों से उत्पन्न होता हूँ सदैव उस ही में रहूँगा, मैं किसी अन्य पदार्थ के परिणमन से उत्पन्न नहीं हो सकता, अन्य जाति के पदार्थों से तो उत्पन्न

ही क्या होऊँगा ? जो अनहोनी है वह सदा अनहोनी रहती है, कोई पदार्थ दूसरे पदार्थ के परिणमनरूप नहीं हो सकता है अन्य पदार्थ से मेरा सुख परिणमन नहीं होता । इस परमपद की प्राप्ति के लिए प्रथम तो यह आवश्यक है कि हम परपदार्थों में सुख की आस्था न बनाएँ । परमात्मतत्त्व की ओर हमारी दृष्टि हो, जो निर्दोष सर्वज्ञ परमात्मा हुए हैं उनके गुणों में अनुराग हो तो इसे शान्ति होगी ।

**जो होता है वह भले के लिये –** भैया ! जो होता हो होने दो, जो होता है भले के लिए ही होता है, सत्त्व रखने के लिए ही होता है । होने को था सो हो गया यह मेरे भले के लिए ही है, मेरे बुरे के लिए कुछ भी नहीं होता । एक बादशाह और मंत्री थे, वे दोनों जङ्गल में घूमने जा रहे थे । जङ्गल में भटक गए, अपना मन रमाने के लिये परस्पर में कुछ वार्ता करने लगे । बादशाह था ६ अंगुली का जिसे छिंगा कहते हैं । बादशाह ने पूछा मंत्री जी, हम ६ अंगुलिवे हुए हैं सो यह कैसा है ? मन्त्री बोला – महाराज, यह भी भले के लिए है । उस मन्त्री को आदत थी हर बात में वह यह कहे कि यह भी भले के लिए है । बादशाह को गुस्सा आया कि मैं तो छिंगा हूँ और यह बोलता है कि यह भी भले के लिए है । सो उसने मंत्री को कुएँ में ढकेल दिया और वह बादशाह आगे बढ़ गया । दूसरे देश के राजा के यहाँ नरमेध यज्ञ हो रहा था जिसमें एक बड़े सुन्दर हृष्ट-पुष्ट मनुष्य को होमने की जरूरत थी ऐसा कोई पाप-यज्ञ था, बुद्धि ही तो है जिस ओर जिसकी लग जाय । राजा ने कुछ पंडो को छोड़ दिया कि ऐसे पुरुष को कहीं से पकड़कर लावो । उन पण्डों को यह बादशाह ही दिख गया – बड़ा सुन्दर हृष्ट-पुष्ट वह था ही । सो उसे ठोक-पीटकर पकड़कर ले गए और एक खूँटे से बाँध दिया । जब यज्ञ में वह बादशाह होमा ही जाने वाला था कि एक पण्डे ने देख लिया कि उसके तो ६ अंगुलियाँ हैं एक हाथ में, सो कहा कि इसे मत होमो, नहीं तो यज्ञ खराब हो जायगा ! उसे डंडों से मारकर भगा दिया ।

**भले के लिए होनी का पुन: समर्थन –** अब बादशाह बड़ा खुश हो रहा है कि एक हाथ में ६ अंगुली होने के कारण आज मैं बच गया, नहीं तो आज प्राण चले जाते । साथ ही उसने सोचा कि मंत्री जी ठीक कहता था कि ६ अंगुलियाअंगुलियाँ हैं तो यह भी भले के लिए है । वह खुश होता हुआ उसी जङ्गल में आया जहाँ मन्त्री को कुएँ में ढकेल दिया था । झट कुएँ के पास आकर मंत्री को निकाला और सारा किस्सा कह सुनाया । कहा – मन्त्री तुम ठीक कहते थे कि ६ अंगुलियाँ हैं सो यह भले के लिये हैं, यदि ६ अंगुलियाँ न होतीं तो आज मेरे प्राण न बचते, पर मंत्री ! यह तो बताओ कि मैंने जो तुम्हें कुएँ में ढकेल दिया वह कैसा ? तो मंत्री बोला महाराज ! वह भी भले के लिए ही हुआ । पूछा कि इसमें कैसा भला ? सो मन्त्री ने कहा – महाराज ! यदि मैं कुएँ में न होता तो मैं भी आपके सङ्ग में पकड़ा जाता । सो आप तो बच जाते छिंगा होने के कारण और मैं ही आग में होमा जाता, मैं कुएँ में गिर गया इसलिए बच गया । क्या है, जो कुछ होता है उसके ज्ञाता-दृष्टा रहो । उस वस्तु की सत्ता के लिए वस्तु का परिणमन चल रहा है उतना ही देखो । ऐसी शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा की स्थिति हो तो वहाँ शुद्ध ध्यान प्रकट होता है, जिसके प्रताप से शाश्वत परमानन्द प्राप्त होता है ।

## श्लोक-100

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चितत्त्वं भूतजं यदि ।

अन्यथायोगतस्तस्मान्न दुःख योगिनां क्वचित् ॥१००॥

**चेतना को भूतज मानने पर निर्वाण की अयत्नसाध्यता व व्यर्थता का प्रसंग –** कोई पुरुष इस आत्मा को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार तत्त्वोंरूप मानते हैं, आत्मा इनसे पृथक कुछ नहीं है । जब तक इन चार तत्त्वों का विधिवत् मेल रहता है तब तक यह जानना समझना बना रहता है और जब ये चारों तत्त्व बिखर जाते हैं, परस्पर का सम्बंध तोड़ देते हैं तो जानना समझना नहीं रहता है, यह सब चारों तत्त्वों की बात है आत्मा अलग से कुछ नहीं है, ऐसा एक सिद्धान्त है । उसके मत में तो निर्वाण बड़ा सरल है, मर गए और मोक्ष हो गया क्योंकि भूतचतुष्टयरूप का शरीर है, बिखर गया निर्वाण हो गया । कुछ यत्न ही नहीं करना पड़ा । क्या ऐसा निर्वाण है ? कुछ लोग इस आत्मा को सदा मुक्त मानते हैं । जो आत्मा है वह तो ज्यों का त्यों ही है किन्तु प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध होने से एक केवल भ्रम ही रह गया है । आत्मा तो मुक्त ही है, शुद्ध ही है ऐसा भी एक सिद्धान्त है । तो जो मुक्त है स्वयं ही उसको मुक्त करने की कोशिश करना व्यर्थ है, छूटा ही है वह, फिर मुक्ति का उद्यम क्यों किया जाता है ।

**निर्वाण की यत्नसाध्यता –** स्याद्वादसिद्धान्त के अनुसार यह आत्मा स्वरूप से तो स्वभावत: एक स्वरूप है, सदामुक्त है, किन्तु उसकी जो वृत्ति बन रही है वह वृत्ति संसारी है, वहाँ मुक्ति नहीं है । जैसा परिणाम है वैसा ही भोग भोगना पड़ता है । यह संसार-वृत्ति न हो तो मुक्त होने का उद्यम क्यों किया जाय ? तथा स्वभाव यदि मुक्त का नहीं है तो मुक्त हो ही नहीं सकेगा, फिर तो मुक्त होने का उपाय भी बिल्कुल व्यर्थ हो जायगा । आत्मतत्त्व यद्यपि एक चैतन्यस्वरूप नित्य पदार्थ है, परन्तु अनादि काल से कर्म-पुद्गल के सम्बंध से विभावरूप परिणमता चला आ रहा है । इसका स्वभाव तो सदा ज्ञानप्रकाशमय रहने का है, परन्तु वृत्ति में रागद्वेष, मोह भी चल रहे हैं तो यह सब कर्म-उपाधिक सम्बंध का प्रताप है जिसके कारण यह जीव अपने स्वरूप में स्थिर नहीं हो पाता है । वृत्ति संसारी है परन्तु स्वभाव सबसे विविक्त केवल रहने का है इसी कारण ध्यान आदिक के प्रयत्न किए जाने से ये विभाव परिणतियाँ दूर हो जाती हैं और स्वभाव विकासपूर्ण प्रकट हो जाता है । जहाँ दोष एक भी न रहे, गुणों का पूरा विकास हो उसे निर्वाण कहते हैं । निर्वाण में जो आनन्द है उस आनन्द को विषय का मोही जीव रंच भी नहीं पहिचान सकते ।

**यथार्थ ज्ञान से ही पथलाभ –** भैया ! यह संसार विकट जाल है । यहाँ मोही जीवों का ही समागम बना हुआ है । एक दूसरे की वृत्ति देखकर ललचाया करते हैं, मैं भी ऐसा क्यों न हो गया । अपने स्वरूप को भूल जाते हैं, दुःखी रहते हैं । इसके अलावा सबसे विकट समस्या यह है कि गल्ती भी करते जाते और

चतुराई भी मानते जाते ये प्राणी, सो बतावो ये गल्ती कैसे मिट सकती है । गल्ती को गल्ती समझें तो मिट सकती है । यह मोही जीव विषय-वासना में रत हुआ नाना विरुद्ध परिणतियाँ करता है और उनमें ही यह मानता है कि मैं बड़ा होशियार हूँ । दखो, मैंने दूसरों को कैसा धोखा दिया और अपना काम बना लिया । कर रहा है यह गल्ती; स्वभाव से विमुख हो गया है, शान्ति का पात्र नहीं रहा है; व्यर्थ की कल्पनाएँ बना रहा है तिसपर अपने को चतुर समझता है । जब तक स्याद्वाद का आश्रय न करें, तब तक वस्तुस्वरूप को सही नहीं जान सकते हैं । जब वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिज्ञान ही नहीं है तो परम कल्याण कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

**लोकायतिकता से सिद्धि का अलाभ –** अहो ! जो चीज आँखों दिखती है उस पर लोगों को बड़ा विश्वास है । यह ज्ञानमय आत्मतत्त्व तो आँखों नहीं दिखता, इस कारण उसकी ओर विश्वास नहीं होता, परन्तु है कितनी मोटी समझ की बात । अरे ! जो जान रहा है वह कुछ नहीं है क्या ? लेकिन विषय-व्यामोह में जो दृश्यमान है, वही सब कुछ लगता है इस दिखती हुई दुनिया को ही जो सब कुछ मानता है उसे चार्वाक कहा गया है । चार्वाक का यह भी अर्थ हो सकता है कि जो चारु वाक सुने, बोलाकरे, जो बात लौकिक जनों को बड़ी भली लगे ऐसे चातुर्य की सुन्दर बात बोले उसे चार्वाक कहते हैं । जगत के जीवों को सुन्दर बात रागभरी बात ही लगती है । रागभरी बात, इस दृश्यमान जगत को ही जो लक्ष्य में रखते हैं, उनके ही लगती है । यह दृश्यमान ही सब कुछ होता और आत्मतत्त्व कुछ नहीं होता, तो दृश्यमान तो नष्ट होता ही है । शरीर नष्ट होता हुआ मरण हुआ तो वही निर्वाण बन गया, सो यों तो सब का निर्वाण होता है और ऐसे निर्वाण को कौन चाहेगा कौन ऐसा बुद्धिमान है जो स्वयं ही अपने नाश का प्रयत्न करे ? मरण में नाश ही तो हो गया ।

**आत्मा को सर्वथा निर्लेप मानने में भी मुक्ति का अनवकाश –** एक ओर तो चार्वाक के सिद्धान्त को मानने वाले जो शरीर से न्यारा अपने आपका सत्त्व ही नहीं समझते हैं, दृश्यमान को ही सर्वस्व समझते हैं और दूसरी ओर वे जो इसके मुकाबले कोई अपने को बड़ा विवेकी कहलाने के लिये तत्त्वज्ञान का ऐसा बढ़ावा दें जो सीमा तोड़ बन बैठे याने आत्मा को शुद्ध बुद्ध सदामुक्त माना करे, दोनों के ही निर्वाण नहीं है । जब यह शुद्ध बुद्ध ही हो गया तो फिर ध्यान आदिक करने के लिए क्यों उद्यम किया जाय, फिर तो मुक्ति का कोई विधान ही न होना चाहिये । जो अचेतन है उसको मुक्ति दिलाने से लाभ क्या, और जो चेतन है वह तो पहिले से ही मुक्त है, फिर मोक्षमार्ग तो कुछ भी न रहा । इन दोनों बातों का निवारण स्याद्वादसिद्धान्त में मिलता है । आत्मा मुक्त होने का स्वभाव रखता है और उपाधि के सम्बंध में संसारी वृत्ति में लग रहा है । यह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के बल से, शुक्लध्यान के प्रताप से विभाव परिणतियों को त्यागकर स्वसंवेदन के योगाभ्यास से शुद्धस्वरूप में स्थिर हो सकता है, इस ही का नाम है निर्वाण ।

**आश्रेय तत्त्व की मार्गणा –** भैया ! निर्णय करलो कि अपना चित्त कहाँ लगायें कि कुछ धोखा न रहे और वास्तविक आनन्द प्राप्त कर लें । इस जगत में खोजो किस जगह अपना चित्त लगायें, कुटुम्ब में चित्त

लगायें तो प्रथम तो यह कुटुम्ब भिन्न है । उनके परिणमन से मेरा कुछ नहीं होता, मेरे परिणमन से उनका कुछ नहीं होता । मैं सुखी-दुःखी अकेला ही होता हूँ । शुद्ध, अशुद्ध जो कुछ हुआ करूँ वह अकेला ही होऊँगा । किन में चित्त लगायें, अचेतन जड़ परिग्रहों में चित्त लगाने से लाभ क्या है ? वे तो जड़ हैं, भिन्न हैं, मुझे कुछ प्राप्त नहीं होता किसी भी अन्य पदार्थ में चित्त लगाने से । खूब खोजते जावो । कम से कम इतनी समझ बन जाय कि दुनिया में कोई भी पदार्थ में अपना चित्त न लगायें तो सहज ही वह ज्ञानज्योति प्रकट हो जाती है जिसमें चित्त लगाने से संसार के संकट टल जाया करते हैं ।

**अन्तर्दर्शन में स्वाभाविक आनन्द का लाभ –** योगी पुरुष का चित्त इस आनन्दमय आत्मस्वरूप में रहता है इसी कारण उनके ध्यान, साधना के काल में किसी तिर्यञ्च, मनुष्य इत्यादि के द्वारा उपसर्ग हो तो भी कहीं भी उन्हें रंच दुःख नहीं होता है क्योंकि आनन्दमय आत्मस्वरूप को तो ग्रहण कर लिया ना । इस लोक में हम आप का कहीं कोई शरण नहीं है । एक आनन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्व का आलम्बन ही वास्तविक शरण है । जितना उद्यम, श्रम बाह्य दृष्टि बनाकर किया करते हैं उसका हजारवाँ भाग भी ध्यान, श्रम अपने आत्मस्वभाव की ओर लगायें तो यह कल्याणमय आत्मा अपने आप पर प्रसन्न हो जायगा, फिर कोई संकट नहीं रह सकता । संकट शरीर की परिस्थिति में नहीं हैं किन्तु अपने अन्तर के उपयोग की बर्हिदशा में हैं, हम कैसा उपयोग करें कि दुःखी हो जायें, कैसा उपयोग करें कि सुखी हो जायें । जिनका चित्त बाह्य सम्पदाओं में भटका हुआ है उन्हें शान्ति से भेंट नहीं हो सकती । जिनका चित्त परतत्त्व की दीवालों को पार करके शुद्ध सहज आनन्दस्वरूप में लगता है उनके आनन्द सहज ही प्रकट होता है । ऐसे योगी पुरुषों को ध्यानसाधना के काल में भी चूँकि वे अपने सत्य का उद्देश्य लिये हुये हैं अत: किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता ।

**ज्ञानियों का स्वाधीन आनन्द –** अज्ञानी जीव तो गद्दा तक्कों पर पड़ा हुआ भी दुःखी हो रहा है और ज्ञानी पुरुष घोर जंगल में कैसी ही सर्दी गर्मी में बसा हुआ भी सुखी रहता है, क्योंकि सुख और दुःख का आधार ज्ञानी की कला है, बाहरी पदार्थों की परिस्थितियाँ नहीं हैं । किसी मनुष्य के घर में लाखों का धन गड़ा हो और उसे पता नहीं है तो उस धन के निकट बस कर भी वह गरीबी का अनुभव करता है, वैसा ही दुःखी होता रहता है । जब उपयोग में ही अपनी निधि नहीं है, तब यह दीन ही तो है, ऐसे ही आनन्दस्वरूप ज्ञानप्रकाशमात्र अपना आत्मा जिसके अनुभव में नहीं है वह बाहरी ही बाहरी पदार्थों से भीख मांगकर, आशा लगाकर अशान्ति ही प्राप्त करता है । शान्ति वहाँ नहीं हो सकती है ।

**विवेकियों का अन्तर्निर्णय –** यह संसार अज्ञान का घर है, इसमें दूसरों का वोट ले करके न्याय नहीं बन सकता है । किसमें सुख है वोट ले लो सबका । उल्टी राय ही प्राय: सबकी मिलेगी; सही बहुमत नहीं मिल सकता । करोड़ों अज्ञानियों की संगति की अपेक्षा एक ज्ञानी की संगति लाभदायक है । अज्ञानी पुरुषों के मतों से अपने कल्याण का निर्णय नहीं हो सकता । ये सब स्वप्न की दशाएँ हैं । मोह की नींद में जो यहाँ सब कुछ निरखा जा रहा हो कि यह मैं हूँ । शरीर को ही लक्ष्य में लेकर इस अज्ञानी ने मैं की व्यवस्था बना ली है और दूसरे जीवों में भी शरीर को लक्ष्य में लेकर मैं की व्यवस्था बनायी है, सर्वत्र

किसी न किसी पर की व्यवस्था बनायी है । जिसे सुखी होना है उसका पता ही नहीं है तो सुखी किसे करोगे, जिसे भीख देना है वही नहीं दिख रहा है तो भीख किसे दोगे । जिसे सुखी करना है उसका तो सही पता हो । व्यामोही पुरुषों को न तो उसका ही पता है जिसको आनन्द देना है और न आनन्द का । यों भ्रमवश किसी को मान लें, वह तो उनकी कल्पना है । न तो उन्हें प्रयोजक का पता है और न प्रयोजन का पता है कि हमें कैसा आनन्द चाहिये । जब तक आत्मा का और आनन्द के स्वरूप का यथार्थ निर्णय न हो तब तक इसको आनन्द प्राप्त हो ही नहीं सकता है ।

**ज्ञातृता में पारमार्थी की प्रसन्नता –** ज्ञानी जीव सदा प्रसन्न रहता है । इसका कारण यह है कि वह सबका मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहता है, जो केवल जानन-देखनहार रहे उसे आपत्ति नहीं है । यह संसार अजायब घर है । अजायब घर में अजायब ही चीजें हुआ करती हैं । वहाँ जो दर्शक जायें उन्हें केवल देखने का अधिकार है, छूने का अधिकार नहीं है । कोई छुये तो उसे दंड भोगना पड़ता है । ऐसे ही इस लोक में यह सब दृश्यमान अजायब घर है । कुटुम्ब परिवार धन वैभव ये सब अजायब घर की वस्तुएँ हैं । उन्हें केवल जानते-देखते रहा तो कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु जब जानन-देखनहार न रहकर उनमें राग और द्वेष करते हैं, उन बाह्य पदार्थों को छूते हैं तो छूने वालों को दंड मिलता है, भव-भव में भटकना पड़ता है, आकुलित होना पड़ता है । इस आकुलता को दूर करना है तो ममता छोड़ो, अपने आपके सहजस्वरूप में आओ तो इस शुद्ध प्रयत्न से ही सब सङ्कट दूर हो सकते हैं । यों स्याद्वाद से आत्मतत्त्व की व्यवस्था करें और बाह्य से हटकर अंत:स्वरूप में लगें, यही विधि ही संसार के संकटों से बचाने में कारण है । सदा शुद्ध अनादि अनन्त इस ज्ञायकस्वरूप की भावना रखना चाहिए, कि मैं तो यह ज्ञानस्वरूप हूँ, सर्व परभावों से न्यारा हूँ ।

## श्लोक-101

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मन: ।

तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषत: ॥१०१॥

**आत्मा की अविनाशता का कथन –** पूर्व श्लोक में दो पक्ष रखकर यह कहा गया था कि यदि कोई आत्मा का जुदा अस्तित्व नहीं मानता है, केवल इस भौतिक शरीर को ही सब कुछ जानन देखनहार मानता है उसके भी निर्वाण नहीं है, क्योंकि शरीर तो नष्ट हो जायगा । क्या शरीर के ही नाश का नाम निर्वाण है ? मरण का ही नाम निर्वाण है क्या ? दूसरे पक्ष में कोई यह मानते हैं कि आत्मा तो अपरिणामी है, व्यापक है, सदामुक्त है । उस सिद्धान्त में फिर मोक्षमार्ग के विधान की आवश्यकता क्या है ? इन दोनों

पक्षों को रखकर स्याद्वाद सिद्धान्त से नित्यानित्यात्मक, स्वतन्त्र सत्तावान, आत्मतत्त्व को सिद्ध किया था । उस बात को सुनकर लोग शीघ्रता में यह सोच सकते हैं, जैसे कि आम लोगों के ख्याल भी हो जाता है कि, आत्मा कहाँ रहता है आगे, मर गये, शरीर जला दिया, फिर रहा क्या ? उसके समाधान में यह श्लोक कहा जा रहा है ।

**मोह में आत्मानाश का भ्रम –** देखो भैया ! जब नींद में कोई स्वप्न आ जाता है और मान लो ऐसा ही स्वप्न आ जाय कि हम बड़े कठिन बीमार हैं, वैद्य नाड़ी देख रहा है, नाड़ी खतम हो गयी है, हम मर गए हैं ऐसा स्वप्न दिख सकता है कि नहीं ? जङ्गल में कहीं भटक गए, कोई सिंह आ गया, मेरे शरीर का विदारण कर दिया, हम मर गए, ऐसा भी स्वप्न में देखा जाता है ना, तो ऐसा देखे जाने पर भी क्या वह मर गया ? नींद खुलती है तो देखता है अरे ! मैं कहाँ मरा ! मैं तो आराम से कमरे में पड़ा हूँ । तो जैसे स्वप्न में अपने मरने का दृश्य दिख जाय तो वह भ्रमरूप है, सही बात नहीं है, वह तो अभी जिन्दा है, नींद खुलने पर तो अपने को वह जिन्दा पाता है । मैं कहाँ मरा, केवल एक स्वप्न में ही मर गया था । तो जैसे एक स्वप्न में दुःखी होना, मरना भ्रम ही है, वास्तव में नहीं है, वह तो सुरक्षित है ऐसे ही इस जगते हुए में याने इन आँखों से जो देखा जाता है कि यह मर गया, अब कुछ नहीं रहा, यों यह जीव का मरण देखना यह भी भ्रम है । आँख के जगते व सोते के दोनों ही दृश्यों के भ्रम समान हैं । आँख की नींद में मरना दिख गया तो जैसे वह भ्रम ही है ऐसे ही मोह की नींद में अपने आपके स्वरूप का परिचय न होने से जो यहाँ मरना देखा जाता है वह भी भ्रम है ।

**मोहनिद्रा के भङ्ग होने पर भ्रम का परिहार –** भैया ! और भी देखिये, जिस समय स्वप्न में मरण देखा जा रहा है, उस समय क्या ऐसा भी लगता है कि यह भ्रम ही है, हम मर नहीं गये ! स्वप्न में तो जो देखा जाता है वह बिल्कुल सच्ची घटना लगती है । यह भ्रम था इसका ज्ञान तो जग जाने पर होता है । जब नींद खुल गई तब ख्याल होता है ओह ! मैं स्वप्न में देख रहा था, जो भी स्वप्न में देख रहा था वह भ्रमरूप था, मैं तो जिन्दा हूँ, कहाँ मरा ! ऐसे ही जब तक अज्ञान है, निज स्वतंत्र सत्ता का परिचय नहीं हैं तब तक यह जीवन और मरण देखना यह भी सच लगता है । यह जिन्दा तो हुआ है, यह मर तो गया है, कैसे इसे झूठ मान लें । अब कुछ नहीं रहा, कहाँ है आत्मा आज निकल गया । मोह की निद्रा में ये सब पर्यायबुद्धि की बातें सही लगती हैं, भ्रम नहीं लगती हैं । ये सब बातें भ्रमरूप तो तब विदित होती हैं जब यह जग जाय अर्थात् मोहनिद्रा भङ्ग होती है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय होता है तब विदित होता है ओह ! यह सब मैं भ्रम ही कर रहा था । मैं तो अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूप हूँ ।

**सर्व पदार्थों की शाश्वतता –** जगत में जितने भी पदार्थ हैं वे समस्त पदार्थ शाश्वत हैं । न कोई पदार्थ नया बनता है और न कोई पदार्थ अपना सत्त्व छोड़ता है । जितने जीव हैं उतने ही हैं । हैं अक्षयानन्त । जितने पुद्गल अणु हैं वे उतने ही हैं । वे भी अक्षयानन्त हैं । धर्म, अधर्म, आकाश एक ही एक हैं और कालद्रव्य असंख्यात हैं । जितने भी पदार्थ हैं उनमें से न एक कम होता है, न एक कभी ज्यादा हो सकता है, कोई पदार्थ ज्यादा कैसे हो सकेगा ? कुछ भी नहीं है और कुछ भी हो जाय, यह कैसे सम्भव है ।

कुछ भी हो कोई तो उसका उपादान होगा ही जिसमें कि कुछ हुआ है । नया कुछ हुआ अर्थात् असत् सत् नहीं बन सकता, और जो कुछ है उसका विनाश कैसे होगा ? जो सत् है वह कुछ भी न रहे ऐसा कैसे किया जा सकता है । कोई लकड़ी का ठूँठ वजनदार है, मानो दो मन का है, उसे जला दिया जाय तो जल जाने पर कहो कि दो ही किलो का वजन रह जाय । कुछ धुवाँ में उड़ गया, कुछ भष्म भी बह गयी और कभी कुछ भी न रहे, सब उड़कर बिखर जाय, कुछ पता ही न चले, ऐसी स्थिति में भी उस ठूंठ में जितने परमाणु थे उनमें से एक भी कम नहीं हुए । भले ही वे बिखर जायें धुवाँरूप में, भष्मरूप में, कैसी ही हालत में हो जाएँ पर उनमें कमी नहीं आ सकती ।

**सत् के विनाश और असत् के उत्पाद की असम्भवता** – भैया ! सोचो तो सही, सत् कैसे असत् बन जायगा और असत् कैसे सत् बन जायगा ? यदि कोई असत् भी सत् बन जाय याने जो कुछ भी न हो उपादान में भी, वह भी कुछ बन जाय तो अगर यहाँ दस-बीस शेर, चीता, हाथी आ पड़ें तो उन्हें कौन रोक सकता है ? क्योंकि न कुछ से कुछ होने लगा, सदा शङ्का रहेगी । कोई ऊपर की छत पर आकाश से वजनदार हाथी टपक जाय तो क्या हाल हो ? तो ऐसा नहीं होता, असत् कभी सत् नहीं होता और सत् कभी असत् नहीं होता है । अपने आपके आत्मा के सम्बन्ध में भी सोचो कि यह मैं कुछ हूँ या नहीं । यदि मैं कुछ न होऊँ तो यह तो बहुत ही बड़ी अच्छी बात है । मैं कुछ भी न होऊँ, असत् रहा तो फिर क्लेश कहाँ पैदा होगे ? यह तो संङ्कटों को मिटाने की बड़ी बिढ़या बात सुनाई कि मैं कुछ हूँ ही नहीं । यह बोलता तो है ना, कि हम हैं । जिसमें अहं प्रत्यय हो रहा है, 'मैं हूँ' ऐसी जिसमें समझ हो रही है वह कोई एक स्वतन्त्र सत् है । शरीर में समझ नहीं होती । मैं नहीं हूँ ऐसा तो है ही नहीं । मैं जड़ हो जाऊँ ऐसा भी नहीं है । चैतन्यस्वभावी तत्त्व कभी जड़ नहीं हो सकता और जड़स्वभावी तत्त्व कभी चेतन नहीं हो सकता । कल्पना कुछ ही कर लो ।

**कल्पना से वस्तुस्वरूप परिवर्तन का अभाव** – एक कुछ पुरानी बात है, हमारी ६॥ वर्ष की उमर होगी, तब की बात है – जिस पाठशाला में गाँव में मैं पढ़ता था वहाँ एक दिन दो लड़के बहुत बुरी तरह से पिटे । मास्टर ने पीटा, तो देखकर फिर हम दूसरे दिन पाठशाला न गये । एक को पिटते देखकर भय हो ही जाता है हालांकि गल्ती निकले तभी तो पिटे, पर उस दिन डर के मारे हम पाठशाला न गये । तो मास्टर ने चार बच्चों को भेजा कि उसे लिवा लाओ । अब सुबह का टाइम था, पराठा और मठा मैं खा रहा था, लड़कों ने माँ से शिकायत की । माँ ने कहा जावो जल्दी पाठशाला ! तो हमने कहा कि आज तो हम नहीं जायेंगे । माँ ने एक दो थप्पड़ लगाये । मैं रोता जाता और सोचता जाता कि यदि मैं यह काठ का खम्भा होता (जिसमें मक्खन बिलोया जा है) तो मैं न पिटता । काठ के खम्भे को कोई कहाँ पीटता है ? तो वह तो एक कल्पना थी । न कोई जड़ कभी चेतन होता और न चेतन कभी जड़ होता । कैसे हो, चैतन्यस्वभावी तत्त्व कभी जड़ नहीं हो सकते और जड़स्वभावी तत्त्व कभी चेतन नहीं हो सकते । कल्पना में कुछ भी ले आयें । फिर भी जो लोग यों सोचते हैं कि यह मर गया, कुछ नहीं रहा, खतम हो गया, वह भ्रम है ।

**प्रेम की समस्या –** सच तो बात यह है कि परिवार के लोग, मित्रजन किनसे प्रेम करते हैं ? किसी से भी नहीं ! वे केवल अपने कषाय से प्रेम करते हैं । सब अपनी-अपनी बात सोच लो । क्या कोई कुटुम्बी मुझसे प्रेम रखता है ? अपने आपमें सोचिये ! यह 'मैं' दो प्रकार से कहा जा सकता है – एक तो शरीररूप जिसे दुनिया समझती है और एक चैतन्यस्वरूप, जिसे ज्ञानी ही समझता है । ये कुटुम्ब के लोग इस शरीर से प्रेम करते हैं या उस आत्मा से प्रेम करते हैं ? पहिले विश्लेषण करके इसका निर्णय बताओ ! कुटुम्बी जन यदि शरीर से प्रेम करते हैं तो मरने पर क्यों सोचते हैं कि इसे तुरन्त जलावो, देर हो रही है, घर खराब हो जायगा, यह देर तक रहेगा तो न जाने कैसा विष घर में फैल जायगा । क्यों ऐसा सोचते हैं ? अरे कुटुम्बी जनो ! इस शरीर से तुम बड़ा प्रेम करते थे, यह शरीर तो पड़ा तो है, क्यों नहीं प्रेम करते ? कुटुम्बी लोग शरीर से प्रेम नहीं करते, तो क्या आत्मा से प्रेम करते हैं ? वे आत्मा से भी प्रेम नहीं करते ! आत्मस्वरूप की ओर तो उनका लक्ष्य ही नहीं है, इस मुक्त आत्मा से वे क्या प्रेम करेंगे ? तो न उन्होंने शरीर से प्रीति की और न आत्मा से प्रीति की । जिसको आत्मा लक्ष्य में आ जायेगा वह एक ही आत्मा से क्यों प्रेम करेगा ? वह तो सभी आत्माओं से प्रेम करेगा !

**प्रीति की अतथ्यता –** देखो भैया ! परिजनों ने आत्मा से प्रीति करनी सोची होती तो जिसमें आत्महित होता हो वह ही क्यों न करते । कभी किसी बालक का कुछ ज्ञान की ओर चित्त जाय, वैराग्य की ओर चित्त जाये तो उससे उस आत्मा का भला होगा ना, किन्तु नहीं ऐसा होने देते । ऐसे उपाय रचते हैं कि वह शादी करले, घर में फँसे, ज्ञान न सीखें । अरे ! यह लड़का महाराज के पास ज्यादा न बैठे, साधु-संगति में अधिक न रहे, कहीं ऐसा न हो कि चित्त में आ जाय और घर छोड़ दे तो मेरा घर ही मिट जाय । क्या कोई पिता अपने पुत्र के प्रति ऐसा भी कुछ प्रोग्राम सोचता है कि इसे धर्म विद्या पढ़ाओ । यह आत्मा के स्वरूप को ठीक पहिचान जाय, आत्मदृष्टि कर ले । इस जीव का कहीं कुछ है ही नहीं, फिर क्यों इसकी बर्हिमुखी दृष्टि बनी । यह संसार में न रुले, मोक्षमार्ग प्राप्त कर ले । इसका विवाह न करेंगे । इसे खूब ज्ञान और वैराग्य में लगायेंगे ऐसा किसी बाप ने पुत्र के प्रति चिंतन किया है क्या ? चाहे न कर पाये, बहुत सी बातें सोचता है पिता और उन्हें नहीं कर पाता, पर सोचता तो है । कोई भी न किसी के आत्मा से प्रेम करते हैं और न शरीर से । सच तो यह है कि वे अपने आपमें उठी हुई कषाय से प्रेम करते हैं उसे शाँत करने का उद्यम करते हैं पर इस तथ्य को नहीं जानते तो किसी पर तो बात फेंकी जायगी ? किस पर बात फेंकी जाय । जो उस कषाय वेदना के शान्त होने के विषयभूत पड़े उस पर आक्षेप किया जायगा ।

**व्यवहार की मायारूपता –** यह सब व्यवहार मायारूप है । यों समझ लीजिये कि जैसे स्वप्न में दिखे हुए दृश्यों में सार नहीं है, केवल कल्पना-जाल है ऐसे ही खूब खुली आँखों में, चतुराई भरे मन में भी जो व्यवहार किया जाता है वह सब थोथा है, असार है, भ्रमरूप है । अज्ञानी करे क्या, स्वप्न में भी तो यह बुद्धि नहीं बन पाती कि जो स्वप्न मैं देख रहा हूँ वह सब भ्रम है तो यह ख्याल भी भ्रमरूप ही है । वह है १०, २० मिनट का दृश्य और यह १०, २०, ५० वर्ष का दृश्य सब दृश्यमान पदार्थ मायारूप हैं । प्रत्येक

पदार्थ अविनाशी है, ध्रुव है । पदार्थों की पर्याय पलटती रहती है किन्तु पदार्थ का विनाश नहीं होता । यह जीव आज मनुष्य भव में है, कल अन्य भव में है पहिले अन्य भव में था, यों पर्याय अनादि से पलटती चली आयी है पर यह जीव नहीं पल्टा अर्थात् यह चेतन से अचेतन नहीं होता और न इसका अभाव होता । ये दोनों ही भ्रमरूप हैं, और इस जीवन में जो दुकान हैं, काम है, परिजन है, जिनको खूब सम्हाल रहे हैं, धन का संचय कर लेने पर अपने में बड़प्पन अनुभव कर रहे हैं, ये सब स्वप्न की तरह भ्रमरूप है । जब यह जीव जग जायगा अर्थात् अपने सहज स्वरूप का परिचय कर लेगा तब पता पड़ेगा कि ओह ! मैंने सारा भ्रम ही किया था ।

**निज सहज स्वरूप की दृष्टि में आत्मलाभ –** जब तक मोह-निद्रा भंग नहीं होती, परमार्थभूत आत्मतत्त्व का परिचय नहीं होता तब तक ही यह सब सही दिखता है, बात-बात में लड़ाई, अन्याय, पक्षपात, मायाचार ये सब किस कारण हो रहे हैं ? अज्ञान के कारण । ज्ञानी पुरुष तो सर्वत्र यों देख रहा है कि जो होना है हो रहा है । कहीं भी कोई कुछ होता हो उसके कुछ होने से मेरे में कुछ सुधार-बिगाड़ है क्या ? यह तो आत्मा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र है । जितना है उतना ही यह शरीर छोड़कर चला जायगा और जब इस शरीर के अन्दर है तब भी यह आत्मा केवल अपने स्वरूप मात्र है, परमाणु मात्र भी मेरा यहाँ कुछ नहीं है किन्तु यह बहुत बड़ा सङ्कट है जीव पर जो यह ऐसी श्रद्धा बनाए है कि मेरा यह घर है, मेरा यह परिवार है । यह अज्ञान की बात बड़ी सस्ती लग रही है किन्तु यह बहुत महँगी पड़ेगी । यह समझ रहा है चातुर्य, पर कट रही है इसकी जड़, इसके स्वरूप पर हो रहा है कुठाराघात । कोई चीज सस्ती ले आयें तो वह खोटी बनेगी, सभी तो चतुर हैं । इस अज्ञानी जीव को ये भोग भोगने में बड़े आसान लग रहे हैं, उदय है ना, घर हमारा है, स्त्री हमारी है, बच्चे हमारे हैं, यों बड़े सरल सस्ते लग रहे हैं । मनचाहे कर्म करने में, मनमाने भोग भोगने में, जिस पर चाहे हुकूमत करने में इसको बहुत मौज आ रहा है, सब करनी इसे सस्ती लग रही है, किन्तु क्या  हो रहा है अन्तर में ? कर्मबंध, पापबन्ध, मलिन परिणाम, अज्ञान का बोझा । इनका फल क्या मिलेगा नहीं ? अवश्य मिलेगा । ये सब भ्रमरूप हैं, अपने सत्त्वपर दृष्टि दो और कल्याण के मार्ग में लगो, यही एक सारभूत कर्तव्य है ।

## श्लोक-102

अदु:खभावितं ज्ञानं क्षीयते दु:खसन्निधौ ।

तस्माद्यथावलं दु:खैरात्मानं भावयेन्मुनि: ॥१०२॥

**तपश्चरण के लिये सकारण अनुरोध –** गत प्रसंग में यह बात चल रही थी कि आत्मा अनादिनिधन है, यह केवल भावना ही कर सकता है और उस भावना के प्रसाद से यह परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है ।

इस पर यह शंका होना प्राकृतिक है कि जब केवल आत्मा की भावना करने से ही मुक्ति मिल जाती है फिर उपवास करना, तपस्या करना—ये कठिन कठिन काम करने की क्या आवश्यकता है ? उसके ही समाधान में इस श्लोक में कहा गया है कि जो ज्ञान, बिना क्लेश सहे, आराम में प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान दुःख के कारण छूटने पर नष्ट हो सकता है । इस कारण योगी पुरुषों को अपनी शक्ति के माफिक अपने को तपस्या में लगाना चाहिए ।

**यथाबल क्लेशभावना का हेतु –** यहाँ यह बताया है कि मुनि यथाशक्ति अपने को क्लेशों से भावित करें । जो मनुष्य कष्ट नहीं सह सकते हैं, जिनमें कष्ट सहने का उत्साह नहीं है या जिन पर कष्ट नहीं आ रहा हो वे पुरुष अपने शुद्ध आनन्द के मार्ग को पा सकें यह बात जरा कठिन है । प्रथमानुयोग में जितने पुराण पुरुष हुए हैं, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, प्रद्युम्नचारित्र आदि में जितने भी पुराणपुरुषों की कहानी है केवल उनके कष्टों की ही तो कहानी है । कोई महापुरुष ऐसा बतावो जिसने आराम ही आराम भोगा हो, गद्दे तक्कों पर ही पड़ा रहता रहा हो और शान्ति पायी हो, इज्जत पायी हो, कोई भी पुरुष बतावो । जब तक कष्ट नहीं आते हैं और उन कष्टों को सहने की क्षमता नहीं होती तब तक आत्मा में क्रांति नहीं बढ़ती है । कौन, कैसा अंतर में कष्ट सहता है, किसको क्या पता है ? जिसके चारित्र में कुछ लम्बे काल भी सुखिया बताया हो उस पर भी किसी न किसी अवसर पर महान् क्लेश उपस्थित हो जाते हैं । भरतचक्रवर्ती की बड़ी प्रसिद्धि है, जिन्होंने दीक्षा ली और अन्तमुर्हूत में ही केवली हो गये । भरतचक्री का चक्र नगर में नहीं प्रवेश कर पा रहा था और बाहुबली का मुकाबला करना पड़ा था और बाहुबली से हार गये थे, इससे बढ़कर और क्या कष्ट हो सकता है । कष्ट की जातियाँ अलग-अलग हैं ।

**निर्विकल्पकी मुनिमें कष्टसहिष्णुता –**महापुरुषों में इतना बल होता है कि कष्ट आये तो उन्हें सहन करते जायें । किसके कष्ट की कहानी लिखी है ? किसी के कष्ट की नहीं लिखी है, पर संसार में ऐसा होता नहीं है कि कोई बिना कष्ट के रह सके । कष्ट सब पर आता है । जो कष्ट में अंधे हो जाते हैं वे डूब जाते हैं, उनका इतिहास में नाम नहीं आता । किन्तु जो कष्टों से न घबरायें उनकी आज कहानी शास्त्रों में भी लिखी गई है । कष्ट आने की संभावना तो रहती ही है तब आराम से पैदा किया हुआ ज्ञान दुःख आने पर नष्ट हो सकता है । अब आजकल तो कोई ढंग की वास्तविक विद्या ही नहीं रही । अभी ही कुछ समय पहिले लोग धनिकों के लड़कों को कहा करते थे कि ये सिर्री होते हैं, वे पढ़ लिख नहीं सकते । माँ-बाप का उन पर बड़ा प्यार रहता है, आराम की उनकी जिन्दगी रहती है । सो उनका चित्त विद्याग्रहण में नहीं लगता है । जो वास्तविक विद्या है वह गुरु-विनय बिना और कष्ट-सहन बिना प्राप्त नहीं होती है । यों तो आज की विद्याएँ हो रही हैं, पर उन आज की विद्यावों में भी जिसे लोकविद्या कहते हैं, जितने निपुण गरीब छात्र हो जाते हैं उतने निपुण श्रीमंतों के लड़के नहीं हो पाते हैं । उसका कारण है कि आराम ही आराम में उत्कृष्ट विद्या नहीं आती है । अत: उत्कर्षार्थी को कष्टसहिष्णु होना चाहिए ।

**स्वयं की कार्यप्रयोजकता मानने पर कष्ट का विनाश –** भैया ! सच तो बात यह है कि कष्ट कुछ है ही

नहीं इस जीव पर । बाहर में कोई पदार्थ कैसे ही परिणम रहे हैं, परिणमने दो तुम ज्ञाता-दृष्टा रहो । यह जानो कि मैं पर के लिए कुछ न कर रहा हूँ, मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह अपने लिए कर रहा हूँ । यदि दूसरों की सेवा करता हूँ, दूसरों का उपकार करता हूँ तो वह दूसरों के लिये नहीं कर रहा हूँ, वह मैं अपनी रक्षा के लिए कर रहा हूँ । कैसे ये विषय, कषाय, ममता के संस्कार इस जीव को बहुत-बहुत तरह से दुःखी कर रहे हैं, जिनमें रमते हुए यह जीव यह समझता है कि मैं बहुत होशियारी का काम कर रहा हूँ, मैं सबसे प्रसिद्ध धनिक हूँ, बड़े आराम के साधन हैं, मेरी बड़ी लोक में मान्यता है । कुछ भी समझें पर अन्तर में विषय-कषायों के संस्कार हैं, सो वे दुःखी कर रहे हैं, उनसे बचने का यह सब इलाज है – दूसरों की सेवा करना आदि । उसमें उपयोग लगेगा तो उतनी देर को विषय कषायों में उपयोग न लगेगा । पापों का बंध न हो तो आत्मदृष्टि की पात्रता ही मिलेगी । अपनी रक्षा के लिए पर की सेवा कर रहे हैं, यह जिसके भाव हैं वह कभी क्लेश में नहीं आ सकता और जिसका पर के प्रति एहसान का भाव है – मैंने इन लोगों के लिए कितना क्या किया, बहुत किया, ऐसा परिणाम जो रखेगा वह अपने ही अपराध के कारण दुःखी रहेगा ।

**कार्य की प्रयोजकता का अवलोकन –** जिसने अब तक जिस किसी की भी सेवा की; स्त्री, पुत्र आदिक की ममताभरी सेवा की, न्याय-अन्याय भी कुछ नहीं गिना, वहाँ भी उसने दूसरे के लिए कुछ नहीं किया, अपने ही लिए किया था और अब उनसे हटकर गरीबों की दया, लोगों का उपकार, धर्मप्रचार या उपदेश आदि जो कुछ भी किए वे दूसरे के लिए नहीं किए, अपनी ही शान्ति के लिए यह सब किया गया, ऐसा जिसका परिणाम होगा उसे क्रोध नहीं जगेगा । प्रतिकूल भी कोई चले, उसको भी देखकर क्रोध न आयगा । क्रोध आता है तब, जब उसके सम्बन्ध में कुछ एहसान समझते हैं । मैंने तो इतना एहसान किया और यह इस तरह बोल गया । ज्ञानी पुरुष का सर्वत्र यही परिणाम है कि मैं जो कुछ करता हूँ अपने लिए करता हूँ, दूसरों के लिए नहीं करता हूँ, ऐसे आशय के पुरुष ही कष्टसहिष्णु हो सकते हैं । अज्ञानीजन तो कष्ट में अधीर हो जाते हैं ।

**कष्टसहिष्णुता से योगियों के परिणामों में उज्ज्वलता –** साधु-संत-जन जानकर अपने शरीर को कष्ट में लगाते हैं, उपवास करते हैं । क्या जरूरत है साहब उपवास की ? इसमें ज्ञानी का तो यह उत्तर है कि आराम-आराम में भले प्रकार रहा आया तो परिणामों में उज्ज्वलता नहीं जगती है । जैसे भट्टियों में तपाया हुआ सोना कान्ति लाता है, शुद्ध होता है ऐसे ही कष्ट में तपा हुआ पुरुष अंतरङ्ग में अपनी उज्ज्वलता बढ़ाता है । वह घाटे में नहीं है । घाटे में तो है आरामतलब पुरुष । कष्ट सहने वाला कभी घाटे में नहीं होता । आरामतलब लोग कायर, गम्भीर, आलसी व चित्त के मलिन होते हैं और स्वार्थ में अंधे रहते हैं अथवा यह कह लीजिए कि उनमें निर्दयता की भी मात्रा अधिक होती है । उससे लाभ नहीं होता । मोही पुरुष ही ऐसा जानता है कि मैं बड़े लाभ में हूँ । कुछ कष्ट ही नहीं करना है, वह आराम से खाता है, रहता है । इसने ऐसा भ्रम बनाया कि उसकी कल्पना में आराम ही आराम है सदा । अज्ञानी प्राणी को यह विदित नहीं कि विषयों के आराम में विष भरा हुआ है । अंदाज करके देखलो, कष्ट सहते

हुए अपने न्याय की दृढ़ता की जो खबर रखता है उसे कितना आनन्द आता है; विषय-साधनों में आसक्त होकर झुकने में इतना आनन्द कहाँ आया करता है । जब कोई विकल्प उठ रहा हो, धर्म की बात ही चित्त में समा रही हो उस समय की कान्ति और आनन्द की मुद्रा देखलो और एक विषयों के सुख लूटते समय की कांति और मुद्रा देख लो; कितना अंतर रहेगा ? पश्चवर्ती में वहाँ रोनी सूरत रहती है । भले ही उसने आराम माना हो, पर उन विषयों के सुख में वह प्रसन्नता कहा रह सकती है जो न्याय, नीति और शुद्ध भावों में मिल सकती है ।

**योगियों के तपश्चरण के प्रयोजन –** योगीजन अपने आपको कष्ट और तपस्या में लगाते हैं, उसके अनेक प्रयोजन हैं कि तप में अपनी वृत्ति होने पर विषय-कषायों के गंदे परिणाम हट जायेंगे । सो विषय-कषायों के आघात से सुरक्षित रहने के लिए अपने को कष्ट और तपस्या में ज्ञानी पुरुष लगते हैं । दूसरा कारण यह है कि कुछ कष्ट सहने का माद्दा जीवन में नहीं बना, तो पाया हुआ ज्ञान सब एक किनारे हो जायगा । जो दो-दो दिन के तीन दिन के उपवास कर सकते हैं, कदाचित् उदयवश कमी रह जाय या न योग जुड़े तो वे धैर्य तो रख सकते हैं । लोग अपमान से बड़ा भय खाते हैं । मेरा कहीं अपयश न हो । भैया ! यह भय तब तक बना रहेगा जब तक अनेक बार अपयश न हो । एक नीति में बताया है कि जब तक कोई उपसर्ग नहीं आता, कष्ट नहीं आता तब तक इसका भय रहता है और जब कष्ट आता है तो वह हिम्मत बनाता है उसे फिर उस कष्ट से उतना भय नहीं रहता है जितना कि भय पहिले था । तो कभी कोई कष्ट उपस्थित हो उस समय भी तो यह चाहिये कि हम कष्ट सहें और अपनी शक्ति माफिक व्रत, तप में रहा करें । तीसरा कारण यह है कि ये बाहरी कष्ट लोगों को दिखते हैं कि ये बड़े कष्ट सह रहे हैं किन्तु विवेकियों को तो उस कष्ट के अन्दर अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है । जैसे गृहस्थ पचासों कष्ट सहकर भी रोजगार में आनन्द माना करते हैं ।

**साधुओं के कष्ट की अननुभूति –** योगी तो अपने से अधिक कष्ट गृहस्थों के देखता है, ये लोग बड़े कष्ट सहते हैं । और, वैसे भी देखो तो साधुवों के कष्ट से अधिक गृहस्थों के कष्ट हैं । साधुओं ने एकबार खा लिया, दिन भर चैन से रहे, खूब ध्यान किया, न कमायी करना, न धन जोड़ना, पोथी पढ़कर सुनादी, बांचली, विश्राम किया, क्या कष्ट है साधुवों को, बतावो ? और जरा गृहस्थों को देखो, दुकान करें, दसों ग्राहकों की भली-बुरी बात सुनें और त्यागीजन आ जायें तो उनकी सम्हाल करें और देश का काम आये, संस्था के काम आयें उनको देखें, मंदिरों की जिम्मेदारी लें कितने कष्ट हैं गृहस्थों को फिर भी जो उन कष्टों को सहन कर सकते हैं, क्या उन गृहस्थों में धैर्य कम है ? २२ परिषह लगे हैं साधुओं के और गृहस्थों के कितने परिषह हैं उनकी गिनती बताओ । लड़का परिषह, नाती परिषह, दूकान परिषह, घर परिषह, कितने परिषह हैं ।

**विवेकी गृहस्थों की भी पुण्यचेष्टितता –** भैया ! वे गृहस्थ भी धन्य हैं कि जो गृहस्थी के बीच रहते हुए भी यह समझते रहें कि मैं तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ । कोई यहाँ नाम लेकर भी कितने ही अपयश करे, बुरा-भला कहे तो जिसका वह नाम है उसको भला-बुरा कहा । मेरा तो कुछ नाम ही नहीं है जिसका

लोगों ने नाम धर दिया है वह मैं नहीं हूँ । इसमें नाम नहीं है । दूसरे को कोई नाम लेकर गाली दे तो हम बुरा तो नहीं मानते । हमें तो यह गाली नहीं दे रहा है । इसी तरह यहाँ भी निरखता है ज्ञानी कि ऐसा नाम लेकर भी यदि कोई कुछ कह रहा है जिसे कहता होगा कहे । मेरे को नहीं कहता । मेरे को कह भी नहीं सकता । मैं तो निर्नाम चैतन्यस्वरूप हूँ ।

**योगियों की कष्ट में आनन्द की अनुभूति —** यह ज्ञानी संत पुरुष उन कष्टों के बीच गर्मी में पहाड़पर तपस्या कर रहा है । शीत ऋतु में ठंड सह रहा है, आहार का योग न मिला तो भी प्रसन्न है, अंतराय आ गया वहाँ भी कुछ गम नहीं है । कितने ही कष्ट सहे, उन कष्टों के बीच में भी वह अद्‌भुत आनन्द अमृत पीता रहता है । इस अज्ञानी को क्या पता है कि ज्ञानी क्या करता है, क्या नहीं किया करता है ? इसका परिचय अज्ञानी नहीं पा सकता है । वह तो ऊपरी वृत्ति देखकर कहेगा कि आज महाराज ने यह किया । अरे ! क्या अन्तर में किया, क्या नहीं किया ? इसे अज्ञानीजन जान नहीं सकते । जिस पर बात न आ पड़े वह नहीं समझ सकता ।

**तपस्या में आत्मसंपदा का अवलोकन –** इस तपस्या में, इन कष्टों के सहन में बहुत सम्पदा भरी हुई है । सुख में क्या मग्न होना दुःख में क्या घबराना ? यह ज्ञानी तो सुख को भी हेय समझता है । वह तो निज सामान्य की ओर आकर प्रसन्न रहता है, वह विशेष में नहीं लगना चाहता, सब लोग जानते हैं कि सुख के बाद दुःख आता है । जो संसार के सुख हैं, वैषयिक सुख हैं उनके बाद दुःख आते हैं और दुःख के बाद सुख आते हैं, कोई भी मनुष्य या जीव ऐसा दुःखी न होगा कि उस ही रफ्तार का दुःख दिन भर किए रहता हो । कहाँ तक करेगा ? थक जायगा । तो सुख के बाद दुःख आता है और दुःख के बाद सुख आता है । कहो, तुम्हें क्या पसंद है ? जिसके बाद दुःख आये चीज पसंद है । दुःख के बाद सुख आता है । अरे ! तो दुःख पसंद नहीं हैं । संसार में कहीं क्लेश नहीं है, ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मतत्त्व की सुध लो, रंच भी तो कष्ट नहीं है । चिंताओं का क्यों बोझ लाद लिया है ? जिसका जो होता है वह उसके भाग्य से होता है । हमारे थोड़े कर्तव्य में कोई सुखी हो जाय, होने दो । पर चिंताएँ लादकर अपने आपको संसार-गर्त में डालना, यह तो बुद्धिमानी नहीं है । कष्टसहिष्णु हों और वहाँ भी अपने आपके तत्त्वज्ञान का ही ध्यान रखो । ऐसी वृत्ति से ही कल्याण का मार्ग मिल सकेगा ।

## श्लोक-103,104

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेष प्रवर्तितात् ।

वायो: शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥१०३॥

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुख जडः ।

त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥१०४॥

**आत्मा और देह की भिन्नता का प्रतिपादन –** इस प्रकरण में यह बात सिद्ध की गयी है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है । ऐसा सुनने पर जिज्ञासा हो सकती है कि जब आत्मा और शरीर बिल्कुल जुदे हैं तो आत्मा के चलने पर शरीर क्यों चलता है अथवा आत्मा जैसे शरीर को चलाना चाहता है वैसा शरीर क्यों चलता और जहाँ शरीर को बैठाना चाहता है वहाँ शरीर कैसे बैठ जाता ? आत्मा हाथ उठाना चाहे तो उठ जाता है, जैसा करना चाहे वैसा शरीर चलता है इसका क्या कारण है ? जैसे हम जुदे हैं आप जुदे हैं तो हमारे चलने से आप चल फिर तो नहीं सकते ऐसे ही आत्मा जुदा है, शरीर जुदा है तो फिर आत्मा के चलाने से शरीर को न चलना चाहिए, न ठहरना चाहिए, किन्तु यह चलता है; ठहरता है, सब बातें नजर आती हैं फिर आप यह क्यों कहते हो कि शरीर जुदा है और आत्मा जुदा है ? उस ही के उत्तर में यह श्लोक कहा गया है ।

**शरीर यंत्र के संचरण का निमित्त कारण –** आत्मा का जब इच्छा और द्वेष की परिणति से प्रयत्न होता है तो उस प्रयत्न से वायु चलती है और वायु के संचार से यह शरीररूपी यंत्र अपने-अपने कार्य करने में लग जाता है । हम हाथ हिलायें या कुछ बोलें तो उस हिलने और बोलने की क्या प्रक्रिया है ? मूल में कौन सी हरकत होती है, जिसके बाद फिर अङ्गोपाङ्ग हिलने-चलने लगते हैं ? सबसे पहिले आत्मा में इच्छा उत्पन्न होती है – ऐसा करूँ ! भले ही पूरी तरह से वाक्यों में नहीं यह बोलता है कि मैं ऐसा करूँ । एक घंटे कोई लगातार वेग से भाषण दे रहा है तो क्या एक-एक शब्द के प्रति वह ऐसा मन में स्फुटरूप से सोचता है कि मैं यह बोल दूँ, नहीं सोचता है, न कोई वाक्य बनाता है पर इच्छा शब्द के निरन्तर बोलते हुए में होती जाती है । कोई एक हाथ को गोल-गोल २० मिनट तक घुमाये तो उस घुमाने के बीच में कितनी बार उसकी इच्छा होती जाती है, क्षण-क्षण में निरन्तर इच्छा चलती जाती है और घुमाओ और घुमाओ, पर इस तरह मन में बोलता नहीं है, फिर भी उस समस्त प्रयत्न का कारणभूत इच्छा चलती रहती है ।

**शरीरयंत्र के संचलन का मूल निमित्त जीव की इच्छा –** सबसे पहिले यह आत्मा इच्छा करता है अथवा द्वेष करता है । जिस तरह भी इसका भाव बने उस इच्छा या द्वेष की प्रेरणा से आत्मा में योग चलता है जिसे योग मार्गणायें कहते हैं ।'आत्मप्रदेशपरिस्पंद' वह योग चलता है । उस योग को निमित्त पाकर शरीर में वायु चलती है । इस जीव का योग तक तो सम्बन्ध है, इच्छा की, तो वह आत्मा में ही परिणमन हुआ, द्वेष किया तो आत्मा में ही परिणमन हुआ । इससे आगे आत्मा और कुछ नहीं करता । अब इस प्रयत्न का निमित्त पाकर चूंकि शरीर के एक क्षेत्रावगाह में है ना यह आत्मा, इस कारण शरीर में बसा हुआ जो वात है, वायु है, जिसे वैद्य लोग वात, पित्त, कफ, कहते हैं, जो वायु पड़ी है उसमें हलन-चलन

होती है और उस वायु के हिलने का निमित्त पाकर ये शरीर के अङ्ग हिलते हैं ।

**आत्मविभाव व देहक्रिया में निमित्तनैमित्तिक भाव –** आत्मविभाव व देहक्रिया में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है और वह भी इतना विशिष्ट सम्बन्ध है कि उस नैमित्तिक देहक्रिया की धारा आत्मा के विभाव के अनुकूल होती है । इसी कारण लोग यों ही देखकर सीधा कह देते हैं कि यह जीव चलता है, बोलता है, खाता है, अनेक प्रकार से उन ही क्रियाओं का आरोप यह लोक करता है । पर, विश्लेषण करके देखा जाय तो यों निरखो कि जीव का काम कितना है और शरीर का काम कितना है । कैसा निमित्तनैमित्तिक भाव है कि जीव तो केवल राग या द्वेष करता है, तदनुरूप ज्ञान तो साथ में है ही । अब जीव के उस प्रकार की ज्ञान, इच्छा तथा योग का निमित्त पाकर उस शरीर में सब व्यवस्थित काम होते हैं, अट्ट-सट्ट नहीं । जिस प्रकार की इच्छा हुई वैसा ही योग हुआ और वैसा ही शरीर चला ।

**वचनोद्भूति का निमित्त –** भैया ! बोलने में जिस अंग के जोर देने से जो उच्चारण होता है वही उच्चारण होता है । जैसे क ख ग घ आदि अक्षरों के बोलने पर कंठ में जोर पड़ता है, च छ ज झ आदि अक्षरों में तालुस्थान पर जोर देना पड़ता है, जीभ का स्पर्श करना पड़ता है । तालुस्थान वह है जहाँ दाँत फँसे हैं । उसमें जीभ लगायें तो ये अक्षर बोले जा सकते हैं । उसके ऊपर मूर्धा में जीभ लगाकर ट ठ ड ढ आदि अक्षर बोले जाते हैं । यह हारमोनियम का जैसा बाजा है । जहाँ स्वर दबावो वैसी आवाज निकलेगी । इसे कोई वैज्ञानिक बना सके तो बना ले । इस तरह की हवा दे सके, जितना जोर जहाँ देना चाहिए, दे तो ऐसा बोला जा सकता है; पर यह कठिन बात है । दाँतों में जीभ लगाये बिना त थ द ध नहीं बोले जा सकते । ओंठों में ओंठ लगाये बिना प फ ब भ नहीं बोले जा सकते । तो जैसी यह जीव इच्छा करता है वैसा ही योग चलता है और उसके ही अनुसार वायु हिलती है और उसके अनुसार ही ये सब ओंठ, जीभ आदि चलते हैं । अब बताओ, एक-एक अक्षर के बाद एक अक्षर बोला जाता है और उन सबकी इच्छावों के अनुसार इस शरीर का यत्न चलता है । ऐसे ही और भी उच्चारणों की विधि है जैसे कि कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग बोले जाते हैं, जरा नाक को और दाब दिया तो ङ, ञ, ण, न, म, आदि अक्षर निकलते हैं । नाक के दोनों नथुनों को पकड़ लो तो ये शब्द नहीं बोले जा सकते । जीभ, कण्ठ, ओंठ आदि हिलने के साथ भाषावर्गणा के पुद्गलों का निमित्त-नैमित्तिक भाव है और उससे उच्चारण होता है ना, ऐसा ही और भीतर आगे देखो इस शरीर की हरकत होने से मूल में पहिले इस जीव के योग का निमित्त है । कैसे आत्मा के प्रदेश हिलते हैं तो यह शरीर का यंत्र चलता है ? पूर्वबद्ध कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आत्मा में राग-द्वेष की प्रेरणा के कारण मन, वचन, काय की क्रियारूप प्रयत्न हुआ । भैया ! जो मन में वचन काय की क्रिया हुई है वह तो जड़ की क्रिया है, इस जड़ की क्रिया होने में निमित्तभूत जो प्रयत्न होता है आत्मा का, वह है योग । उस प्रयत्न का निमित्त पाकर प्रदेश-परिस्पंद हुआ और प्रदेशपरिस्पंद होने से शरीर के भीतर की वायु चली और वायु के चलने से यह यंत्र अपने कार्यों में प्रवृत्त होने लगा ।

**शरीर की यन्त्ररूपता –** यह शरीर यंत्र की तरह ही तो है, जैसे काठ के बनाये हुए जो घोड़ा आदि के यंत्र

हैं । रथ बनाते हैं उसमें घोड़े चलाये जाते हैं और कितने ही तो ऐसे घोड़ों के यंत्र बना लिए जाते हैं कि उनकी टाँगें भी चलती हैं, तो जैसे काष्ठ का यंत्र जिस तरह हिलावो उस तरह हिलता है ऐसे ही जिस प्रकार यह मनुष्य अपनी जीभ हिलाता है वैसा ही हलन हो जाता है । जैसे बच्चों के खेलने की मोटर में चाबी भर दी जाती है तो जैसे चाबी भर दी जाती है वैसे हिलती जाती है, ऐसे ही इस शरीर-यंत्र को जीव जैसे हिलाना चाहता है उस प्रकार हिल जाता है । कभी ऐसा भी हो जाता है कि यह जीव चाहता है कि हम शरीर के अमुक अंग को हिलायें और नहीं हिलता है । जिसे कहते है लकवा मार जाता है, तो वह एक यंत्र की खराबी है । यंत्र सही हो तो जिस प्रकार यह आत्मा प्रयत्न करता उसका निमित्त पाकर वैसा ही यह हिलने लगता है । यों इस शरीर का हिलना-डुलना होता है ।

**प्रवर्तन के प्रसङ्ग में जीव और पुद्गल के कार्य –** इन सब क्रियाओं में भी जीव और पुद्गल की न्यारी-न्यारी बात है । जीव का काम ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न तक था । शरीर में वायु का चलना, यंत्रों का चलना यह शरीर का काम है । लेकिन यह बहिरात्मा इस शरीर-यंत्र को, जिसमें ये इंद्रियाँ बनी हैं, आत्मा में आरोपित करता हैं । चूँकि इसने यों माना पहिले कि यह मैं हूँ, इतना लम्बा, चौड़ा, मोटा । इसने शरीर में अहंबुद्धि की, जब शरीर में आत्मतत्त्व की कल्पना की, आरोप किया तो जैसा उस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में यह चलता है, उन्हें फिर यह मान लेता है कि मैं बोल रहा हूँ अथवा मैं शरीर को चलाता हूँ, हाथ-पैर हिलाता हूँ, इस तरह का भ्रम यह अज्ञानी पुरुष करने लगता है और इन पदार्थों में आत्मीयता का आरोप करने से यह जीव क्लेश ही पाता है, शान्ति नहीं पाता है । विकल्प करे, कल्पना बढ़ाये, बहिर्मुखी दृष्टि करे उससे तो इसे क्लेश ही मिलता है ।

**निज-निजरूप में देखने का विवेक –** भैया ! इस शरीर को शरीररूप और आत्मा को आत्मारूप देखना यह विवेकी पुरुष का ही काम है । यह शरीर मैं हूँ इस प्रकार का भ्रम ज्ञानी जीव के नहीं होता है । सो ज्ञानी जीव इस भ्रम को त्यागने के कारण और प्रत्येक पदार्थ में उस ही पदार्थ का गुण, पर्याय निरखने के कारण कल्पना जाल से, सङ्कटों से बच जाता है और परमपद जो मोक्ष पद है उसकी प्राप्ति कर लेता है । यह अज्ञानी जीव मिथ्यात्व के आशय से इन इन्द्रिय की क्रियाओं को अपने आत्मा की क्रियाएँ समझता है । इस असमान जातीय द्रव्यपर्याय में आत्मपदार्थ की कोई क्रिया है, इसका भेद डालनेवाला ज्ञानी पुरुष प्रसन्न रहा करता है, वह कभी खेद नहीं मानता ।

**परप्रसङ्ग में अज्ञानी का परिणमन –** अज्ञानी तो अपने घर की एक ईंट भी खिसकते देख ले तो उसका भी हृदय खिसक जाता है । ऐसा यह जीव भ्रम में बढ़ा हुआ है । कोई एक घटना है कुछ वर्षों की, कि एक किसान अनाज बेचने गया । तीन चार सौ रु. का अनाज बेचा, रुपया नोटों के रूप में थे । सो उन रुपया की गिड्डी वह लिए हुए था, जाड़े दिन थे, भट्टी में ताप रहा था सो उसके बच्चे ने उन नोटों को भट्टी में डाल दिया, वे रुपये जल गए । उस किसान को उससे इतना दुःख हुआ कि उसने अपने बच्चे को भी उस भट्टी में पटक दिया । वह बच्चा मर गया । तो ऐसे इन जड़, अचेतन पदार्थों में इसकी इतनी आत्मीयता है । ऐसे ही इस शरीर में आत्मीयता कर ली कि यह मैं हूँ सो शरीर चले तो अपने को चलता

मानता है । अब इसे मुक्ति का कहाँ से अवकाश मिले ? छुटकारा का तो अर्थ यह है कि शरीर अलग हो जाय और आत्मा अलग हो जाय । ऐसा छुटकारा पाने के उपाय में यह करना बहुत आवश्यक है कि यह जीव पहले मान ले कि शरीर भिन्न है और जीव भिन्न पदार्थ है । यह कब माना जा सकता है ? जब ऐसा ध्यान में रहे कि यह शरीर की क्रिया है, इसका उपादान शरीर है,; यह आत्मा की परिणति है, इसका उपादान आत्मा है । इस प्रकार भिन्न-भिन्न गुण, पर्याय ज्ञान में आयें तो मुक्ति का अवकाश मिल सकता है । परपदार्थों में मोह करके मुक्ति, आनन्द, शान्ति, संतोष इसे नहीं मिल सकता है ।

**देहक्रिया को भिन्न पहिचानने के कारण ज्ञानी के बन्ध का अभाव –** इस जीव ने इन्द्रियों की क्रियावों को अपनी क्रियाएँ समझीं और इस तरह भ्रम में पड़कर यह विषय-कषायों के जाल में उलझता हुआ अपने को दुःखी बनाता रहता है, किन्तु अन्तरात्मा न भ्रम करता है न इन्द्रिय की क्रियाओं को आत्मा की क्रियाएँ मानता है । इसी कारण वह विषय-कषायों के जाल में नहीं फँसता । इसी से कर्मबन्धन नहीं होता । कर्मों का संवर हो, निर्जरण हो तो ऐसे ही शुद्धोपयोग का आलम्बन करके यह जीव अपने एकत्वस्वरूप में रमता है और उस एकत्वस्वरूप के प्रसाद से द्रव्यकर्मों से व नोकर्मों से छूट जाता है भावकर्म भी इसके दूर हो जाते हैं । यों सर्वप्रकार के बन्धनों से छूटकर ज्ञानी जीव परमात्मपद को प्राप्त करता है और शाश्वत परम आनन्दमय होता है । यों भिन्न-भिन्न वस्तुस्वरूप जानने के प्रसाद से संसार के समस्त सङ्कट दूर होते है ।

## श्लोक-105

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च, संसारदु:खजननीं जननाद्विमुक्त: ।
ज्योतिर्मयं सुख मुपैति परात्मनिष्ठस्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम् ॥१०५॥

**संसारसङ्कट से मुक्त होने का तन्त्र –** अज्ञानी जीव इन्द्रिय और देह की क्रियावों को अपनाकर दुःख भोगा करता है । इस जीव का दुःख कैसे दूर हो ? इसका उपाय बताते हुए अब इस अंतिम श्लोक में समाधितन्त्र ग्रन्थ की समाप्ति हो जायगी । उस परमपद की प्राप्ति का उपाय बताने वाले इस समाधितन्त्र को जानकर परमात्मा की भावना में स्थिरचित्त होते हुए यह ज्ञानी संसार के दु:खों को उत्पन्न करने वाली जो अहङ्कारबुद्धि है तथा परबुद्धि है उसको छोड़कर संसारमुक्त होता है और परम सुख को प्राप्त होता है । इस ज्ञानी के दुःख छूट जायें, इसका प्रकरण के अनुसार स्पष्ट उपाय तो यह है कि इस समाधितन्त्र में जो उपाय बताये गए हैं उनको प्राप्त करे । समाधि का तन्त्र अर्थात् मार्मिक उपाय । कैसे समाधि प्राप्त हो ? उसका तन्त्र इस ग्रन्थ में बताया गया है । समाधि नाम है स्वरूपसंवेदन की एकाग्रता होने का । रागद्वेषरहित समतापरिणाम का नाम समाधि है । यह समाधि जिस उपाय से स्व के अधीन कर ली जाती

है उसे समाधितन्त्र कहते हैं । तंत्र का अधीनता भी अर्थ है, किसी को अधीन कर लेना वह भी तो एक उपाय है । सर्व प्रथम यह जीव द्रव्य, गुण, पर्याय का यथार्थ स्वरूप समझे, जिसके प्रसाद से वस्तुओं की स्वतंत्रता नजर आने लगे । व्यवहार में, समागम में भी प्रत्येक वस्तुओं का स्वतंत्र स्वतंत्र परिणमन दिखने लगे और यहाँ तक की अपने आपमें अपने आपके द्वारा अधिष्ठित इस शरीर में जो क्रियाएँ हैं और यह मेरी क्रिया है वहाँ भी मिश्रण न हो सके, ऐसी भेदबुद्धि जिसकी जागृत रहती है वही पुरुष समाधि को प्राप्त कर सकता है । उसका उपाय इस समाधितंत्र ग्रन्थ में है । तंत्र नाम शास्त्र का भी है । इस समाधितन्त्र में अपने समाधि-प्रतिपादक शास्त्र को जानकर और इस समाधितन्त्र की अर्थात् समाधि के उपाय को जानकर जो समाधि को अपने तंत्र करता है, अधीन करता है ऐसा पुरुष संसार के सर्व क्लेशों से दूर होता है ।

**समाधि का निर्देश –** समाधि शब्द का अर्थ है 'सम् सम्यकप्रकारेण आधीयते तत्त्वं यंत्र स समाधि: ।' जहाँ भली प्रकार से तत्त्व का आधान होता है उसे समाधि कहते हैं । तत्त्व है सहज ज्ञायकस्वरूप । वह वहाँ ही स्थित होता है जहाँ रागद्वेष नहीं रहते हैं । जितने भी संसार के क्लेश हैं उन क्लेशों का मूल, शरीर में आत्मबुद्धि करना है जो जीव देह से भिन्न आत्मतत्त्व को नहीं जानते हैं वे अपने देह में 'यह मैं' हूँ ऐसी प्रतीति करते हैं । अन्य देहों को निरखकर ये पर जीव हैं ऐसा सोचना भी भ्रम है और अपने देह को निरखकर यह मैं हूँ, ऐसा सोचना भी भ्रम है । सबसे पहिले देह से भिन्न स्वतंत्र, सत्तावान, आत्मतत्त्व है यह समझना होगा । इसकी समझ आते ही यह जीव आत्मा परमात्मा में निष्ठावान होता है ।

**जीवत्व के सम्बन्ध में चार प्रकार की ज्ञेयता –** आत्मा को, इस चैतन्य को लोग स्वतन्त्ररूप से चार भागों में विभक्त करते हैं – जीव, आत्मा, परमात्मा और ब्रह्म । ये भिन्न चीजें नहीं है । एक सच्चिदानन्द तत्त्व को जब विकारीरूप में निरखा, अहंकार-ममकार की तरंगों में चिपटा हुआ निरखा तब उसका नाम जीव रख लेना चाहिए, और इस ही सच्चिदानन्द तत्त्व को जब विवेकपूर्ण, भेद विज्ञानी देखा तब इसको अन्तरात्मा अथवा आत्मा कहना चाहिए । यह ही चिदानन्दस्वरूप तत्त्व उस दर्शन के बल से शुद्ध हो जाता है तब इसको परमात्मा कहना चाहिए । ये तीन अवस्थाएँ हैं । इन सब अवस्थावों में समानरूप में सनातन शाश्वत जो एक स्वरूप चितस्वभावी है उस का नाम ब्रह्म बोलना चाहिए । इस प्रकार एक उस चित् तत्त्व में अवस्थावों के भेद से और उन अवस्थावों के आधारभूत शाश्वत स्वरूप के लक्ष्य से चार नाम कहे जाते हैं ।

**जीवत्व के चार ज्ञेयों में हेय उपादेयपने का विश्लेषण और आलम्ब्य तत्त्व –** इनमें छोड़ने योग्य चीज है जीवात्मत्व, और कथिञ्चत् किसी अवस्था तक ग्रहण करने योग्य है आत्मत्व अन्तरात्मापन, और सर्वथा उपादेय है परमात्मत्व । यह जीवात्मा मूढ़ प्राणी अपना जीवात्मत्व त्याग कर परमात्मत्व को पाये इसका उपाय क्या है ? उसका उपाय है अन्तरात्मत्व, भेद विज्ञान । और अन्त:स्वरूप का आश्रय लेना यह उपाय नहीं किया जाता । इस उपाय में भी आश्रयभूत है यह ब्रह्मस्वरूप । इस ब्रह्मस्वरूप का आलम्बन लेकर वह एक निर्मल दशा प्रकट होती है जो बढ़ते-बढ़ते परमात्मा के रूप में परिसमाप्त होती है ।

**ब्रह्म के आलम्बन का प्रभाव –** यह समाधि एक चित्स्वभाव के निरखने में प्रकट होती है । जितने विकल्प, वितर्क और विचार हैं वे सब इस समाधि के बाधक हैं; यहाँ तक कि व्रत, तप, संयम करते हुए में मोहीजन विचारे कि मैं यह व्रत कर रहा हूँ, इससे ही मैं पार होऊँगा, ऐसा एक मात्र बाह्य क्रिया में विकल्प है । किसके प्रयोजन के लिए ये ब्रत तप संयम किए जा रहे हैं उसकी भी जिसे परख नहीं है वहाँ भी ये विकल्प समाधि में बाधक होते हैं । मूल का ग्रहण करने के बाद फिर वे बाह्य क्रियाएँ इस प्रयोजन में सहयोग देने वाली होती है । कोई इस मूल तत्त्व को तो ग्रहण न करे और मात्र देहाधीन क्रियावों में ही अपने धर्म की परिसमाप्ति समझे वहाँ समाधि की पात्रता नहीं होती और कितने भी श्रम करने के बाद शान्ति प्रकट नहीं होती है । जैसे पेड़ के पत्तों को भी खूब धोया जाय, फूल और डालियों को भी खूब धोया जाय, सींचा जाय किन्तु जड़ों में पानी का सिंचन न करे तो वह पेड़ हरा नहीं हो सकता । जड़ों में पानी दिए बिना केवल मात्र ऊपरी स्नान से वृक्ष हरा-भरा नहीं होता । ऐसे ही अपना परमशरण यह स्वरूप, सर्वविविक्त, शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव, इसका ग्रहण न हो, इसकी दृष्टि न हो और बाह्य में पर की ओर, देह की ओर निरखकर अनेक क्रियाएँ और श्रम करता रहे तो शान्ति नहीं आ सकती है । कषायों में भी अन्तर नहीं पड़ सकता है ।

**अविकार अन्तस्तत्त्व के आश्रय बिना कषायों के अभाव की असंभवता –** लोग किन्हीं-किन्हीं के बाबत चर्चा करने लगते हैं कि देखो इतने दिन तो हो गए त्यागी हुए, व्रती हुए, या पूजापाठ करते हुए, भक्त बने हुए; कितना तो समय गुजर गया किन्तु अन्तर कुछ नहीं आ पाया, वैसा ही क्रोध, वैसा ही घमंड, वैसी ही ऐंठ, मायाचार, हठ, क्षोभ ये सब ऐब जैसे के तैसे बने हुए हैं, इनका क्या कारण है ? अरे ! कारण स्पष्ट है, जो निष्कषाय है, निर्दोष है ऐसे अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव की उनके पकड़ नहीं है, उसकी दृष्टि करके परमार्थत: तृप्ति वे करना ही नहीं चाहते हैं । विश्राम के स्थान पर वे पहुँचे ही नहीं हैं । तब क्या करे यह बेचारा प्राणी ? कुछ भी करे, पर विषयों, कषायों को अन्दर से हटा नहीं सका । मान लो किसी धुन में रसना इन्द्रिय के विषय को मंद कर लिया, संतुष्ट हो गया, जैसा मिले तैसा खाले, तो मन का कोई विषय बढ़ जाता है । वह किसी ख्याति की सोचने लगता हैं परतत्त्व के संचय की बात कष्ट के लिए ही होती है ।

**परभाव के संचय में अनर्थ –** भैया ! केवल धन के संचय का ही नाम पर का संचय नहीं है । अपने मन के जो विषय हैं ख्याति, पूजा, लाभ आदिक की जो चाह है; मेरा लोक में यश बढ़े, यह बड़ा पुरुष है, धनी है, ज्ञानी है, तपस्वी है, किसी भी प्रकार की ख्याति को सोचना यह भी तो एक संचय बुद्धि है । और जैसे धन के प्रति संचय की बुद्धि लग जाय तो उसकी यह इच्छा होती है कि सारा धन मेरे ही पास आये, दूसरे के पास न पहुँचे, तभी तो मैं बड़ा कहलाऊँगा, ऐसे ही नामवरी की चाह में भी ऐसी ही द्वेषबुद्धि हो जाती है कि सारा पूरा नाम मेरा ही हो, दूसरे का न हो । परतत्त्व के संचय में इस ऐब की बराबर समानता देखते जाइए । यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर परतत्त्व के संचय में ही व्यग्र रहता है ।

**निजकार्य का विवेक** – यह संसार मायाजाल है, दृश्यमान सब कुछ मायारूप हैं, परमार्थभूत कुछ नहीं है, सब नष्ट होने वाले हैं । इन मायामय जीवों में, तत्त्वों में अपने कुछ नाम की चाह रखना, बड़प्पन की आकांक्षा करना यह कैसी स्वप्न जैसी अटपट कल्पना है । इसी अहंकार और ममकार से यह जीव परेशान है । कल्याण तो वह पुरुष कर सकता है जिसमें इतना साहस है कि मानों वह सारी दुनियाँ के लिए मर गया है, अर्थात् मैं अब मर चुका हूँ । मरे हुए पुरुष के प्रति दुनिया के लोक कुछ भी बकें अथवा कुछ भी प्रवृत्ति करें उसको क्या है ? ज्ञानी पुरुष दुनियाँ की दृष्टि में मरा हुआ ही तो है । अज्ञानी पुरुष समझते ही नहीं हैं कि ज्ञानी क्या है । मोहियों को मोह ही पसंद आता है । तो ज्ञानी भी यों समझ रखते हैं कि मुझे करना क्या है किसी परतत्त्व में । मैं सचमुच यदि अन्याय की वृत्ति करता हूँ तो वह मेरे लिए भयंकर चीज है । उस न्यायवृत्ति से रहते हुए क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच आदि गुणों के बल से तृप्त रहते हुए ही मेरा जो कुछ भविष्य है वह मेरे ही परिणामपर तो है । कोई परवाह नहीं है ।

**आत्मोन्नति के इच्छुकों का खुद से ही उन्निनीषा करने का औचित्य** – भैया ! किसी दूसरे पुरुष से कुछ आशा रखकर सुधार न किया जा सकेगा । लोग मुझे बड़प्पन दें, तो मेरा सुधार हो जायेगा यह सोचना भ्रम है । इसमें तो बिगाड़ ही है । अपने आपका शोधन हो, पोषण हो इसमें ही सार है । किस समागम में विश्वास बनाये हुए हो, जिनके लिए तन, मन, धन, वचन सब कुछ अर्पण किए जा रहे हो । मोहियों के परिचय के विषयभूत ये परिचित अज्ञानी हैं ना, विषय-कषायों के भरे हुए हैं ना, अपने ही स्वार्थ से लगे हुए हैं ना, उनके दिल की मुराद पूरी करने के ख्याल में ऐसा विकट व्यायाम-कसरत करके क्या लाभ उठावेंगे ? कुछ तो सोचना चाहिए ।

किसी प्रकार के ढला-चला से, जैसो चला आया है धर्म भी सुनना चाहिए और पर्वों के मौके पर इस धर्म का यों पालन भी करना चाहिए । यह सब मात्र रूढ़ि से किए जाने से वास्तविक अन्तर तो न आयगा । जिसे धर्म की रुचि है वह धर्म को रात–दिन, बारह महीने करना चाहता है । भले ही वह न कर सके, सङ्ग प्रसङ्गों में कुछ अन्य भी यत्न करने पड़ते हैं, न कर सके तो भी प्रतीति में यह है कि धर्म केवल आठै चौदस को ही करने को नहीं है, केवल दसलाक्षिणी-अष्टाह्निका में करने का नहीं है, धर्म तो आत्मा का स्वभाव है और वह प्रतिक्षण करने योग्य है । ज्ञानी पुरुष इस धर्म की साधना के लिए ही सर्व परिग्रहों का संन्यास किया करते हैं ।

ज्ञानी पुरुष अभिन्न आत्मस्वभाव की उपासना से और कभी-कभी भिन्न आत्मा की, परमात्मा की उपासना से अपने आपको ज्ञानमात्र बनाया करते हैं । जगत में हम आपका शरणमात्र समतापरिणाम है, ज्ञाता-दृष्टा रहना है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी विडम्बना की तो उससे नियम से फँस जायगा । सर्व यत्न करके मोहजाल से प्रतीति को त्यागो । जब तक सर्व जीवों से समता भाव न बनेगा तब तक अपने आप में भी समाधिजन्य आनन्द न प्राप्त होगा । मोह से दूर हों और शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा रह सकें, ऐसा यत्न ही सर्व प्रकार से करने योग्य है, अन्य सब हेय तत्त्व हैं, ऐसा जानकर इस स्वरूप की आराधना के लिए यथोचित सर्व यत्न करना चाहिए। अपने को अपने सहज ज्ञायकस्वरूप के आलम्बन का ही सच्चा शरण

है । निज समयसार का निर्विकल्प आश्रय करनेरूप समाधि के बल से ही संसारसङ्कट दूर हो सकते हैं । अत: निर्विशेष सहज ज्ञान प्रभु से भाववन्दनपूर्वक आवेदन कीजिये कि हे परमब्रह्म ! इस उपयोग में निरन्तर विराजमान रहो अथवा तुममें यह उपयोग एकरस होकर समाया रहे ।

# * इति समाधितन्त्रप्रवचन चतुर्थ भाग समाप्त *